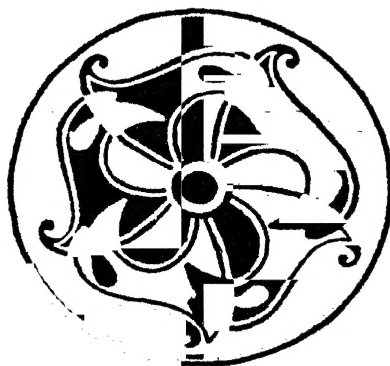
विश्वभारती पत्रिका



सम्पादक

रामेश्वर मिश्र

खण्ड ४९ चैत्र २०६५ - भाद्र २०६५

अंक १-२ अप्रैल २००८ - सितम्बर २००८

विश्वभारती पत्रिका

साहित्य और संस्कृति सम्बन्धी हिन्दी त्रैमासिक



सत्यंह्येकम्। पन्था: पुनरस्य नैक:।

अथेयं विश्वभारती। यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। प्रयोजनम् अस्या: समासतो व्याख्यास्याम:। एष न: प्रत्यय:-सत्यंह्येकम्। पन्था: पुनरस्य नैक:। विचित्रैरेव हि पथिभि: पुरुषा नैकदेशवासिन एकं तीर्थमुपासर्पन्ति-इति हि विज्ञायते। प्राची च प्रतीची चेति द्वे धारे विद्याया:। द्वाभ्यामप्येताभ्याम् उपलब्धव्यमैक्यं सत्यस्याखिललोका-श्रयभूतस्य-इति न: संकल्प:। एतस्यैवैक्यस्य उपलब्धि: परमो लाभ:, परमा शान्ति:, परमं च कल्याणं पुरुषस्य इति हि वयं विजानीम:। सेयमुपासनीया नो विश्वभारती विविधदेशग्रथिताभिर्विचित्रविद्याकुसुममालिका-भिरिति हि प्रच्याश्च प्रतीच्याश्चेति सर्वेऽप्युपासका: सादरमाहूयन्ते।

विश्वभारती पत्रिका विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के तत्त्वावधान में प्रकाशित होती है। इसलिए इसके उद्देश्य वे ही हैं जो विश्वभारती के हैं। किन्तु इसका कर्मक्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं। सम्पादक-मण्डल उन सभी विद्वानों और कलाकारों का सहयोग आमन्त्रित करता है, जिनकी रचनाएं और कलाकृतियां जाति-धर्म-निर्विशेष समस्त मानव जाति की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित और समूची मानवीय संस्कृति को समृद्ध करती हैं। इसीलिए किसी विशेष मत या वाद के प्रति मण्डल का पक्षपात नहीं है। लेखकों के विचार स्वातन्त्र्य का मण्डल आदर करता है, परन्तु किसी व्यक्तिगत मत के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं मानता।

आलेख तथा समीक्षार्थ पुस्तकों से सम्बन्धित समस्त प्रकार के पत्र-व्यवहार करने का पता :

सम्पादक, विश्वभारती पत्रिका (हिन्दी)

हिन्दीभवन, शान्तिनिकेतन – ७३१२३५

पश्चिम बंगाल

हलवासिया शोधग्रन्थमाला

सम्पादक : रामेश्वर मिश्र

दिव्य-प्रबन्ध : तमिल भाषा में प्रणीत वैष्णव भक्त आलवारों की वाणियाँ (तमिल वेद), आठ भागों में। भारतीय भक्तिधारा का आकर ग्रन्थ, देवनागरी में मूल तमिल तथा प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद। अनुवादक : पण्डित श्रीनिवास राघवन।

ग्रन्थांक-१	**दिव्य-प्रबन्ध-भाग-१**	
	सन्त विष्णुचित्त (पेरियाल्वार) की रचनाएँ	मूल्य २५ रुपये
ग्रन्थांक-२	**वज्रयानी सिद्ध सरहपाद** — डॉ. द्विजराम यादव	अप्राप्य
ग्रन्थांक-३	**मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में प्रयुक्त काव्यरूढ़ियों का अध्ययन**	
	डॉ. देवनाथ चतुर्वेदी	मूल्य ४० रुपये
ग्रन्थांक-४	**दिव्य-प्रबन्ध-भाग-२**, सन्त आण्डाल (गोदा),	
	कुलशेखर, भक्तिसार, मुनिवाहन, तथा मधुर कवि की रचनाएँ	मूल्य ३५ रुपये
ग्रन्थांक-५	**दिव्य-प्रबन्ध-भाग-३**, सन्त परकाल की रचनाएँ	मूल्य ४० रुपये
ग्रन्थांक-६	**दिव्य-प्रबन्ध-भाग-४**, सन्त परकाल की रचनाएँ	मूल्य ४० रुपये
ग्रन्थांक-७	**इतालवी व्याकरण-इतालवी भाषा का हिन्दी में प्रथम व्याकरण**	
	डॉ. एदमोन्दी आन्देरलीनी तथा डॉ. रामसिंह तोमर	मूल्य ७० रुपये
ग्रन्थांक-८	**दिव्य-प्रबन्ध-भाग-५**, सन्त शठकोप की रचनाएं	मूल्य ५० रुपये
ग्रन्थांक-९	**दिव्य-प्रबन्ध-भाग-६**, सन्त शठकोप की रचनाएं	मूल्य ५० रुपये
ग्रन्थांक-१०	**दिव्य-प्रबन्ध-भाग-७**, सन्त कासार, सन्त भूत, सन्त वेताल	
	तथा सन्त भक्तिसार की रचनाएँ	मूल्य ५० रुपये
ग्रन्थांक-११	**दिव्य-प्रबन्ध-भाग-८**, सन्त शठकोप, सन्त परकाल तथा	
	श्रीरंगाचार्य की रचनाएँ	मूल्य ५० रुपये
ग्रन्थांक-१२	**आधुनिक कविता में राष्ट्रीय चेतना**	
	डॉ. ऊ जो किम (दक्षिण कोरिया)	मूल्य १५० रुपये
ग्रन्थांक-१३	**माणिक्कवाचकर, तिरुवाचकम (भाग-१)**	मूल्य १२५ रुपये
ग्रन्थांक-१४	**मणिक्कवाचकर, तिरुवाचकम् (भाग-२)**	मूल्य १५० रुपये

हजारी प्रसाद द्विवेदी : जन्मशती प्रकाशन

ग्रन्थांक-१५	शान्तिनिकेतन का हिन्दी-भवन	मूल्य २५० रुपये
ग्रन्थांक-१६	विश्वभारती पत्रिका : चयनित निबन्ध	मूल्य ३५० रुपये
ग्रन्थांक-१७	अपनी बात	मूल्य २०० रुपये
	(हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित सम्पादकीय टिप्पणियाँ)	

विश्वभारती पत्रिका के प्रकाशित विशेषांक

१. **महात्मा गांधी जन्मशती विशेषांक**
   मूल्य : ३० रु.

२. **चार्ल्स फ्रियर ऐण्ड्रयूज जन्मशती विशेषांक**
   मूल्य : ३० रु.

३. **मानस चतुश्शती अंक**
   मूल्य : ३० रु.

४. **हजारी प्रसाद द्विवेदी स्मृति अंक (अनुपलब्ध)**
   मूल्य : ३० रु.

५. **रामानन्द चट्टोपाध्याय विशेषांक**
   मूल्य : ३० रु.

६. **सूर-पंचशती विशेषांक**
   मूल्य : ३० रु.

७. **रवीन्द्र-विशेषांक**
   मूल्य : ३० रु.

८. **बनारसीदास चतुर्वेदी जन्मशती विशेषांक**
   मूल्य : ३० रु.

९. **मध्ययुग परिचयात्मक हलवासिया अंक**
   मूल्य : ३० रु.

१०. **हजारी प्रसाद द्विवेदी जन्मशती विशेषांक**
   मूल्य : ६० रु.

इस अंक के लेखक

अनिल गुगनानी	:	प्रवक्ता, राज्य शिक्षण संस्थान, सैक्टर-३२, चण्डीगढ़ (संघीय क्षेत्र)।
इन्द्राणी दास शर्मा	:	रीडर, अंग्रेजी एवं अन्य यूरोपीय भाषा विभाग, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन प.बंगाल।
पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'	:	साईकृपा, ५८, लाल एवेन्यू, डाकघर-रेयान ऐंड सिल्क मिल, अमृतसर - १४३००५
प्रवीण कुमार मिश्र	:	शोधछात्र, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
बहादुर मिश्र	:	प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर, बिहार।
राजश्री शुक्ल	:	व्याख्याता, हिन्दी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता।
राहुल पाण्डेय	:	शोधछात्र, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
विजय बहादुर सिंह	:	प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
विश्वनाथ प्रसाद	:	प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, असम विश्वविद्यालय, सिलचर, असम।
विश्वनाथ मिश्र	:	४७/४, कबीर मार्ग, क्ले स्क्वायर, लखनऊ-२२६००१।
सत्यदेव त्रिपाठी	:	'नीलकण्ठ' एन.एस. रोड नं. ५, विलेपार्ले पश्चिम, मुम्बई-४०००५
सुरुचि मिश्र	:	निराला नगर, विलासपुर, छत्तीसगढ़।
हनुमान प्रसाद शुक्ल	:	अध्यक्ष, साहित्य विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, पंचटीला, वर्धा, महाराष्ट्र।

विश्वभारती पत्रिका

खण्ड ४९, अंक १-२ चैत्र २०६५ - भाद्र २०६५, अप्रैल २००८-सितम्बर २००८

विषय-सूची

अफ्रीका

रविन्द्रनाथ ठाकुर

(व्योमकेश शास्त्री के छद्मनाम से हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा भाषान्तरित)

उस उद्भ्रान्त आदिम युग में
जिस समय स्रष्टा अपने प्रति असन्तोष से
नई सृष्टि को बार बार विध्वस्त कर रहे थे,
अधैर्य के कारण बार बार सिर हिला रहे थे,-
उसी दिन
रुद्र समुद्र का बाहु
प्राची धरित्री की छाती से
छीन ले गया तुम्हें, ऐ अफ्रीका,
बाँधा उसने तुम्हें, वनस्पति के कठिन पहरे से
कृपण आलोक के अन्त:पुर में
वहाँ चुपचाप एकान्त फुरसत के समय
तुमने संग्रह किया था दुर्गम का रहस्य,
पहचाना था जल स्थल और आकाश का दुर्बोध संकेत
प्रकृति का दृष्टि-अतीत जादू
मंत्र जगा रहा था चेतनातीत मन में।
भीषण को तुम चिढ़ा रहे थे
विरूप के छद्मवेश में
शंका को हार मनाना चाहते थे
अपने को उग्र करके विभीषिका की प्रचण्ड महिमा से
ताण्डव के दुन्दुभि निनाद से।

हाय छायावृता,
काले घूंघट के नीचे
अपरिचित था तुम्हारा मानव-रूप
उपेक्षा की आविल दृष्टि में।

वे लोहे की हथकड़ी लेकर आए
जिनके नख तुम्हारे भेड़ियों से भी अधिक तीक्ष्ण हैं,
आया मनुष्य–पकड़ने वालों का दल
गर्व से जो अन्धे हैं, तुम्हारे सूर्यहीन अरण्यों से भी अधिक।
सभ्य के बर्बर लोभ ने
नंगा कर दिया अपनी अमानुषिक निर्लज्जता को।
तुम्हारे भाषाहीन क्रन्दन से
वाष्पाकुल वनमार्ग में
पंकिल हो उठी धूलि तुम्हारे रक्त से और आँसू से मिलकर;
दस्यु-पदों के काँटे-ठुके जूतों के नीचे
वीभत्स कीचड़ का पिण्ड
तुम्हारे अपमानित इतिहास में दीर्घकालीन चिह्न छोड़ गया।
समुद्र के पार उसी समय उनके मुहल्ले-मुहल्ले में
मंदिरों में पूजा का घंटा बज रहा था
सबेरे और संध्यासमय
दयामय देवता के नाम पर;
बच्चे खेल रहे थे माताओं की गोद में
कवि के संगीत में बज उठी थी
सुंदर की आराधना।
आज जब पश्चिम दिगन्त में
प्रदोषकाल झंझावायु से रुद्धश्वास हो रहा है,
जब गुप्त गह्वरों से पशु निकल आए हैं
अशुभध्वनि ने दिन का अन्तकाल घोषित किया है,
आओ, ऐ युगान्त के कवि,
आसन्न संध्या की अन्तिम रश्मिपात के समय
खड़े हो जाओ उस ह्रत-माता
मानवी के द्वार पर।
बोलो, क्षमा करो,–
हिंस्र प्रलाप के भीतर
यही हो तुम्हारी सभ्यता की अन्तिम पुण्य-वाणी।।

हजारीप्रसाद द्विवेदी का इतिहास-दर्शन

('परा' केन्द्र और उसके विस्तारक आयाम)

विश्वनाथ प्रसाद

जीवन-सत्ता निरन्तर परिवर्तनशील और समय का सापेक्षिक है। इस सत्ता का तरल मापन ही सम्भव है। इस तरलता के कारण समय का प्रत्येक अंश भूत में प्रलम्बित और भविष्य में प्रक्षेपित होता रहता है। इस प्रक्रिया के कारण भूत, वर्तमान और भविष्यत् में एक अविराम नैरन्तर्य बना रहता है। परिवर्तनशील समय-चक्र में अनावश्यक के त्याग और आवश्यक के ग्रहणीकरण की क्रियाएँ चलती रहती हैं। इसकी प्रभाव-परिधि में जीवन का प्रत्येक अनुषंग आता है। साहित्य पर, क्योंकि यह एक तीव्रतम सांवेदिक सत्ता है, इसका प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक पड़ता है। जीवन-सत्ता की गतिशील सापेक्षता में साहित्य के परिवेश में परिवर्तन और विकास होते रहते हैं। स्वाभाविकता के इस सत्य के कारण साहित्य रूपात्मक, प्रवृत्यात्मक और गुणात्मक दृष्टियों से आगे बढ़ जाता है और उसकी कुछ रचनाएँ, कुछ अवस्थाएँ और कुछ व्यक्ति इतिहास हो जाते हैं। इतिहास में विलोपीकरण और स्थान-संस्थापन की क्रियाएँ साथ-साथ चलती रहती हैं। इतिहास बड़ा निर्मम होता है। वह अपने भीतर किसी को सहज, सरल रूप में स्थान नहीं देता। यदि वहाँ कोई अपना स्थान बनाता है, तो उसके पीछे उसकी अपनी आन्तरिक शक्ति होती है। इस आन्तरिक शक्ति के कारण वह वस्तु (व्यक्ति, अवस्था, रचना) इतिहास के आगामी बहुत दिनों के पाठक, श्रोता और दर्शन को अभिभूत कर लेती है। ऐसी वस्तु हमारी इतनी अपनी हो जाती है कि उसके अध्ययन और पुनर्मूल्यांकन की एक प्रकार से बाध्यता हो जाती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कृती व्यक्तित्व ऐसा ही है। उनकी साहित्य-साधना में संख्या प्रसार, भाव प्रसार और ज्ञान प्रसार का संश्लिष्ट स्वरूप प्रकट हुआ है। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की आन्तरिक ऊर्जा ने समय, साहित्य और संस्कृति को अभिभूत कर लिया है। समासतः, उनका व्यक्तित्व अनन्य-असाधारण है और वह श्रेण्यता के मानक निकष पर निरन्ध्र रूप में सफल सिद्ध होता है।

श्रेण्यता के लिए प्रतिभा का होना अनिवार्य शर्त है। प्रतिभा का मौलिक वैशिष्ट्य यह है कि जब वह एक दिशा में फूटती है तब उससे या तो औसत मनुष्य पैदा होते हैं या पागल। यही कारण है कि श्रेष्ठ रचनाकार में असामान्यता होती है और उनके चिन्तन में अनेक आयाम, अनेक परिपार्श्व दिखाई पड़ते हैं। कबीर, तुलसी, निराला, प्रेमचन्द, दिनकर और पन्त आदि में यह बात स्पष्टतः देखी जा सकती है। समस्या तब होती है जब हम प्रतिभा की सनातन प्रकृति को समझ नहीं पाते और परस्पर विरोधी स्थापनाएँ करने लग जाते हैं। इससे भी अधिक गम्भीर समस्या तब

उत्पन्न होती है जब हम यह ध्यान नहीं दे पाते हैं कि विविध आयामों और परिपार्श्वों के मध्य कहीं कोई ऐसा बिन्दु है जिसे हम उस रचनाकार की चेतना के 'परा' केन्द्र के रूप में चिह्नित करके उसके तत्त्वतल पर अपने विश्लेषण की पीठिका का निर्माण कर सकते हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जन्म शताब्दी के उपलक्ष्य में प्रकाशित विशेषांकों और व्याख्यानों में इन दिनों विद्वानों के बीच एक वैचारिक युद्ध-सा छिड़ा हुआ है। यह अकस्मात हो गया है, ऐसी बात भी नहीं है। उनके ऊपर लिखित पुस्तकों और निबंधों में यह बात पहले से चली आ रही है। उनके सम्बन्ध में जो विविध धारणाएँ बनायी जा रही हैं या जो निष्कर्ष दिये जा रहे हैं, उनमें एक वर्ग वैसे विद्वानों का है जो उन्हें इतिहास, परम्परा और परम्परित शास्त्र से जोड़ते हुए उन्हें अतीतवादी कहता है। दूसरा वर्ग उन विद्वानों का है जो उन्हें मानवतावादी और यथार्थवादी मानता है। विद्वानों का तीसरा वर्ग उन्हें लोकाध्यात्मवादी और सनातनतावादी मानता है। एक वर्ग वैसे विद्वानों का है जो उन्हें समाजवादी मानता है। विद्वानों का एक वर्ग उन्हें लालित्यवादी और कालिदास का क्रीतदास समझता है। एक विशिष्ट वर्ग में ऐसे विद्वान आते हैं जो उन्हें सिद्धों और नाथों तथा कबीर के पुनर्मूल्यांकनकर्त्ता ही नहीं उनके अनुसन्धानकर्त्ता और आविष्कारक भी मानते हैं। वर्ग-समुदाय की दृष्टि से अगला वर्ग वैसे विद्वानों का है जो उन्हें संस्कृत, प्राकृत, पालि और अपभ्रंश तथा बँगला का हिन्दी के साथ सम्बन्ध-सेतु बनाने वाला रचनाकार बताता है। स्पष्ट है कि उनकी रचनाओं में विद्वानों को इस प्रकार की संदेहास्पद स्थिति का सामना करना पड़ता है कि अभिप्रायपरक हेत्वाभास (intentional falacy) का शिकार होने के अतिरिक्त उनके सामने कोई चारा नहीं रहता। वागीश शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि वे कभी ऐतिहासिक विकासवादी, कार्य-कारणवादी दृष्टि से बात करते दीखते हैं, कभी लोकाध्यात्मवादी दृष्टि से बात करते दीखते हैं, कभी क्लासिकल दृष्टि से बात करते दीखते हैं, और उनके समीप रहने वालों को यह दिग्भ्रम हो जाता है कि पंडित जी यह हैं, वह हैं, मानव मूल्यों के प्रतिष्ठापक हैं, नहीं-नहीं कालिदास के क्रीतदास हैं, सहज के प्रतिष्ठापक हैं, अथवा लालित्य के, माधुर्य के सर्जनात्मक प्रयास से आपादित गुण के पक्षपाती हैं, इतिहासवादी हैं या सनातनवादी। दोप विद्वानों का नहीं है। यह सुविधा स्वयं आचार्य द्विवेदी ने उन्हें प्रदान की है। देखें, कुछ उल्लेखनीय उदाहरण—'मैं भीतर-भीतर अनुभव करने लगा हूँ कि पुरानी बातें सब कुछ नहीं हैं।'

'साहित्य उन मूलभूत प्रवृत्तियों पर आधारित है जिनमें कभी परिवर्तन नहीं होता।'

'आत्मा यदि सचमुच कुछ है तो वह बाह्य उपकरणों का ही विकास है। विकास-परम्परा को यदि ध्यान से देखा जाय तो आपको मालूम होगा कि इन्द्रियाँ बहुत बाद की विकास हैं, मन और भी बाद का और बुद्धि उसके भी बाद। आत्मा नामक कोई पदार्थ यदि सचमुच ही हो तो वह

बहुत हाल का विषय है।'

'व्यक्तियों ने इतिहास बनाये हैं, व्यक्तियों के कारण मरी हुई जाति में जान आयी है, व्यक्तियों के कारण जीती हुई जातियाँ नष्ट हो गयी हैं। सही बात तो यह है कि व्यक्तियों के बिना जाति का कोई अर्थ नहीं होता। आज जो बड़े-बड़े आविष्कार हुए हैं, वे किनके लिए? निश्चय ही कुछ थोड़े से लोकोत्तर प्रतिभाशाली व्यक्तियों के कारण।'

'प्रत्येक आविष्कार के पीछे कोई-न-कोई आर्थिक कारण रहा है। मनुष्य को जीवन की लड़ाई में जब बाधा उत्पन्न हुई, तो उसने उसका आविष्कार किया है।'

'संगीत क्या है? मन का विश्वास।'

'हजारों आदमियों को अधपेट भोजन देकर जिलाये रखने की अपेक्षा यह अच्छा है कि कुछ परिवारों को सदियों तक ऐसी सुविधाएँ दी जायँ जिससे ऐसे पुरुष उत्पन्न हों, जो संसार को ऊपर उठा सकें, जो सर्व-साधारण की सुख-सुविधा के उत्तम साधन ढूँढ़ निकालें।'

ये समस्त उद्धरण उनकी एक ही पुस्तक 'साहित्य का नया कदम' से लिये गये हैं। उनकी रचनाओं के प्रस्तार में जाने पर ऐसे परस्पर विरोधपूर्ण स्थल पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होंगे। ऐसी स्थिति में क्या कहा जाय? क्या आचार्य द्विवेदी विखण्डित व्यक्तित्व (Schitrophrenic personality) हैं, या प्रतिभा के सनातनी गुण के कारण नाना स्तरीय अर्थ की सम्भावना (multilevel meaning) रखनेवाले व्यक्तित्व अथवा उनमें लोकचेतना की बहुमुखता है या उन्होंने सत्य के साथ निरन्तर प्रयोग किया है? वस्तुतः वे क्या हैं? यह एक महाप्रश्न उनके सन्दर्भ में स्वभावतः उठता है।

परन्तु प्रश्न यह है कि इतिहासवाद अथवा सनातनवाद अथवा मानवतावाद अथवा शास्त्रवाद आदि के सीमित कठघरे में बन्द करने का प्रयत्न उस महान् रचनाकार के प्रति अन्याय नहीं है? क्या उनकी रचनाओं के केन्द्र में इनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है जिसे हम उनके इतिहास-दर्शन के 'परा' केन्द्र के माध्यम से समझ सकें और यह अनुभव कर सकें कि उनकी सम्पूर्ण रचनात्मक साधना उसी केन्द्र के विस्तारक आयाम हैं और तब इस द्वन्द्व से मुक्त करते हुए सही अर्थ में उन्हें भारतीय चेतना का साहित्य-साधक प्रमाणित कर सकें? क्या इसके लिए आचार्य द्विवेदी जी के इस कथन को आधार नहीं बनाया जा सकता कि—'कुछ और भी है, इस दृश्यमान सौन्दर्य के उस पार, इस भासमान जगत् के अंतराल में कोई एक शाश्वत सत्ता है जो उसे मंगल की ओर ले जाने के लिए कृतसंकल्प है।' (साहित्य का नाय कदम)

'परा' केन्द्र से हमारा क्या अभिप्राय है? यह निश्चय ही परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी के चतुस्तरीय सोपानों में से प्रथम सोपान है। प्रश्न यह है कि इतिहास और इतिहासदर्शन,

विशेषतः इतिहासदर्शन और साहित्यिक कृतियों की व्याख्या या समीक्षा में इसका कोई स्थान है? यदि हाँ, तो इसका उपयोग कैसे हो सकता है? श्री अरविन्द का कथन है कि वस्तुओं का वास्तविक सत्य उनकी प्रक्रिया में नहीं, उसके पीछे, जो प्रक्रिया को निर्दिष्ट करता, प्रभावित करता और शासित करता है, उसमें रहता है, इतना कार्यान्वयन में नहीं जितना उस इच्छा या शक्ति में जो सम्पन्न करती है और इतना उस इच्छाशक्ति में नहीं जितना उस चेतना में जिसका क्रियाशील रूप है इच्छा और उस सत्ता में जिसका क्रियाशील मूल्य है शक्ति। परंतु स्मृति तो चेतना की एक प्रक्रिया मात्र है, एक उपयोगिता है, वह हमारी सत्ता का पदार्थ या हमारे व्यक्तित्व की समग्रता नहीं हो सकती। वह केवल चेतना की क्रियाओं में से एक है जैसे विकीरण प्रकाश की क्रियाओं में से एक है। आत्मा ही मनुष्य है और अगर हम केवल अपने सामान्य सतही अस्तित्व को देखें तो मन ही मनुष्य है–क्योंकि मनुष्य मानसिक सत्ता है। स्मृति मन की बहुत-सी शक्तियों और प्रक्रियाओं में से एक है जो मन सभी चेतन-शक्ति या चित्-शक्ति की आत्मा, जगत् और प्रकृति के साथ हमारे व्यवहार में मुख्य क्रिया है।

यदि दर्शन और अध्यात्म की आत्मवादी और रहस्यवादी सम्प्रत्ययों में हम नहीं जाना चाहते हैं तो इसे सामान्य मन के स्तर पर सरलीकृत करते हुए कहेंगे कि धर्मशास्त्र की 'आत्मा' मनोविज्ञान का मन है, जिसकी तीन अवस्थाएँ हैं– ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और कर्मशक्ति; शब्दान्तर से अचेतन (मूलतः अधिचेतन) मन, अवचेतन मन और चेतन मन। इन्हें क्रमशः भावना, वासना और चेष्टना भी कह सकते हैं। ज्ञानशक्ति ज्ञानात्मक आधार फलक है, जहाँ वासनाएँ कृति की ओर प्रेरित करती हैं। जिससे वह सबसे अधिक सन्निकट होती है, वह है, सूक्ष्म स्तर पर संस्कृति और स्थूल स्तर पर प्रकृति, परिवेश और समाज। सन्निकटता की सूक्ष्म स्तरीय स्थिति अर्थात् संस्कृति उसका 'परा' (प्राक्) केन्द्र है। यह वह केन्द्र है जहाँ से ऊर्ध्वगमन और पार्श्वगमन की सुविधाएँ एक साथ प्राप्त होती हैं। ऊर्ध्वगमन सूक्ष्म स्तर पर होता है–संस्कृति वहाँ प्रस्थान भी होती है और प्राप्ति भी। यही प्राप्ति उसकी पार्श्ववर्ती क्रियाओं का संचालक हो जाती है। पार्श्ववर्ती से हमारा अभिप्राय है–प्रकृति, परिवेश और समाज की स्थूल भौतिकता की ओर मुड़ना। चूँकि चिन्तन और कर्म के समस्त आयाम ज्ञानशक्ति या अधिचेतन मन से फूटते हैं अतः संवेदनशील और चिन्तनशील व्यक्ति की चेतना उसी परा केन्द्र की ओर स्वभावतः मुड़ जाती है जहाँ से वह निःसृत हुई है। अपनी आद्यभूमि की ओर मुड़ना एक सहज-स्वाभाविक क्रिया है। संस्कृति से हमारी अन्तर्सम्बन्धता का वास्तविक आधार यही है।

एक साहित्यकार अनेक प्रकार की रचनाएँ करता है या कर सकता है। उसकी रचनाओं में विधागत एवं विषयगत वैविध्य हो सकते हैं। कभी एक ही विधा में रचित विविध रचनाओं में ही विषय और शिल्पगत विविधताएँ हो सकती हैं। प्रत्येक रचना में गृहीत समस्याएँ और उत्पन्न

निष्कर्ष भिन्न हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में क्या यह कहा जा सकता है कि अपनी प्रत्येक रचना में रचनाकार अलग-अलग सर्जक व्यक्तित्व लेकर प्रस्तुत होता है और उसकी चेतना खण्डित चेतना होती है तथा यह भी कि उसके पास कोई अखण्ड, अविच्छिन्न संवेदनात्मक व्यक्तित्त्व नहीं होता और अपनी प्रत्येक रचना में वह स्वयं को परिवर्तित करता हुआ सौन्दर्यबोध एवं ज्ञानात्मक संवेदना के नये स्वरूप को आयत्त करके नया भावशरीर ग्रहण करता है? यदि यह सच है तो आचार्य द्विवेदी जी का जो साहित्यिक व्यक्तित्व उनके साहित्येतिहास ग्रन्थों में है, वह मूल्यानुसन्धानात्मक ग्रन्थों में नहीं है और जो मूल्यानुसन्धानात्मक ग्रन्थों में है, वह समीक्षात्मक ग्रन्थों में बदल जाता है और उपन्यासों और ललित निबन्धों में वह पुनः बदलकर एक नयी अर्थच्छवि या भावच्छवि प्राप्त करता है। क्या यह अवधारणा सच है?

यह सच है कि साहित्य एक स्वायत्त साधना है। यह बात भी सच है कि प्रत्येक रचना अपना एक स्थानीय मान रखती है और एक स्वतंत्र पहचान बनाती है। किन्तु, इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि कोई भी रचना सर्वतंत्र स्वतंत्र होती है और पूर्ववर्ती रचनाओं के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। वस्तुतः साहित्यिक कृतियों की स्वायत्तता रचना की नहीं होती। स्वायत्तता रचनाकार की होती है। कोई भी रचनाकार विषयगत और विधागत प्रयोग कर सकता है। किन्तु प्रयोग की प्रत्येक अवस्था में उसका मानस उसका नियंत्रक होता है। इस मानस में जीवन और जगत् को देखने और अनुभूत करने की एक दृष्टि होती है। रचनाकार की यह दृष्टि, उसकी वह दृष्टि है, जो मूल जीवनद्रव्य की भाँति उसकी प्रत्येक कृति में समान रूप से विद्यमान रहती है, जिसकी अभिव्यक्ति के लिये वह विधागत, विषयगत एवं शिल्पगत प्रयोग करता है। रचनाकार की यह दृष्टि उसकी विश्वदृष्टि होती है। मूल जीवनद्रव्य अथवा मूल स्पन्दन अथवा विश्वदृष्टि रचनाकार की स्वायत्तता होती है। सामान्यतः यह माना जाता है कि जीवन और जगत् के अवबोधन से प्राप्त एवं निर्मित यह स्वायत्तता रचनाकार की प्रेरणा और प्रतिभा पर निर्भर करती है। क्योंकि प्रत्येक रचनाकार की प्रेरणा या प्रतिभा भिन्न होती है, अतः उसकी स्वायत्त चेतना भी भिन्न होती है। बात सामान्यतः सही है, किन्तु पूरी तरह से सही नहीं है। प्रेरणा और प्रतिभा जब अपने आद्यकेन्द्र अथवा पराकेन्द्र से उत्पन्न होती है या उसकी संलग्नता उस केन्द्र से होती है तभी वह सही और वास्तविक होती है। उसके बिना प्रेरणा अधकचरी हो जाती है और उसमें भटकाव, व्यतिक्रम एवं विचलन की सम्भावनाएँ होती हैं। कोई भी रचनाकार जिसकी प्रेरणा और प्रतिभा उस आद्यकेन्द्र या पराभूमि से सम्बद्ध नहीं है तो उसके चिन्तन और लेखन में वह गहराई नहीं होती जिससे रहित होकर वह रचनाकार श्रेण्य नहीं बन पाता।

क्या है आचार्य द्विवेदी जी की स्वायत्त चेतना अधिक अभिव्यंजक होगा परा केन्द्र? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए उनकी रचनाओं का पर्यवेक्षण करना होगा। उनकी रचनाओं का

पर्यवेक्षण यह बताता है कि वे मूलतः सांस्कृतिक पुरुष थे। संस्कृति-संवेदना उनकी साहित्य-साधना के प्रस्तार में मूलाधारवत् है। यद्यपि संस्कृति-संवेदना भारतीय सांस्कृतिक संवेदना है। भारतीय संस्कृति, उनकी दृष्टि में भारतीय समाज की इच्छाओं, कामनाओं और आदर्श प्रारूप से निर्मित चिन्तन-परम्परा की सार-सम्भूत निष्पत्ति है। उनके अनुसार, हमारे चिन्तन का जो भी श्रेष्ठ अंश है, उसे भारतीय संस्कृति कहा जा सकता है। अपनी इसी सांस्कृतिक संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने इतनी विशाल और विराट् साहित्य-साधना की है। समकालिक मनुष्यों एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों को अपनी साहित्यिक कृतियों में आवश्यक घटक के रूप में स्वीकार करते हुए और उन्हें अपने विवेचन-विश्लेषण-परिधि में लाते हुए भी उनका मुख्य ध्येय अखण्ड, अविच्छिन्न, चैतन्यमयी संस्कृति ही रहा है।

आचार्य द्विवेदी जी अपनी साधनाओं में, वह चाहे साहित्येतिहास ग्रन्थ हों या मूल्यांकन परक ग्रन्थ या औपन्यासिक कृतियाँ या निबन्ध, कहीं भी और किसी भी रूप में, किसी पश्चिमी विचारक या विचार-दर्शन से प्रभावित नहीं हुए हैं—न मार्क्सवाद से, न यथार्थ से, न आदर्शवाद से, न अस्तित्ववाद से, न मनोविश्लेषणवाद से। विषय और कथ्य में भी नहीं, शिल्प-विधान में भी वे पश्चिम के आतंक से सर्वथा मुक्त ही रहे। यह देखने और समझने की वस्तु है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी की साहित्य-साधना का आरम्भ पश्चिम के साहित्य और विचार-दर्शन की संलग्नता से होता है। एडबिन आर्नल्ड के 'लाइट ऑफ एशिया' का 'बुद्ध चरित' नाम से ब्रजभाषा में पद्यानुवाद, जोसेफ एडिसन के 'प्लेजर्स ऑफ इमेजिनेशन' का 'कल्पना का आनन्द' नाम से हिन्दी में अनुवाद, हैकल के 'रिडल ऑफ युनिवर्स' का 'विश्व प्रपंच' नाम से हिन्दी में अनुवाद और उसकी विस्तृत भूमिका लेखन उनकी आरम्भिक साधना के प्रमाण हैं। अपने सुप्रसिद्ध साहित्येतिहास ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' उन्होंने १९वीं शताब्दी के विख्यात फ्रांसीसी दार्शनिक, साहित्येतिहासकार और कवि तथा मनोविज्ञानी तायँ (Taine) के विधेयवाद (Positivism) के आधार पर लिखा। दूसरी ओर, आचार्य द्विवेदीजी ने संस्कृत के विशाल वाङ्मय के साथ प्राकृत, पालि, अपभ्रंश, बँगला, पंजाबी और मराठी के साहित्य, भारतीय दर्शन, साधना-पद्धति, कला-संगीत और व्यापक लोकजीवन को आधार बनाया। हम यह कदापि नहीं कह रहे हैं कि आचार्य शुक्लजी सम्पूर्णतः विदेशी चिन्तन से प्रेरित थे, किन्तु हम यह अवश्य कहना चाह रहे हैं कि इन दोनों आचार्यों के प्रस्थान बिन्दुओं ने उनकी जीवन-दृष्टि और साहित्य-दृष्टि को अवश्य ही प्रभावित किया है। यदि ऐसा नहीं होता तो नाथों-सिद्धों, कबीर और भक्तिकाल के उद्भव के सम्बन्ध में उन दोनों में जो स्पष्ट विभाजक रेखा है, वह नहीं रहती।

आचार्य द्विवेदीजी स्वानुभव में जीने वाले साहित्यकार हैं। यह स्वानुभव उनका वैयक्तिक

अनुभव नहीं है। यह भारतीय परम्परा और जीवनमूल्य का है। पश्चिम से न तो उनका वैर-भाव है और न निषेध-भाव, परन्तु वे जो कुछ सोचते और करते हैं, उसका मूल अभिप्रेरक आधार भारत है। 'सूर साहित्य' में उन्होंने लिखा है कि कोई जाति जब किसी अन्य जाति के मत या कल्पना को अपनाकर अपने नायक मनुष्य से सम्बन्ध करती है तो उतना ही अंश ग्रहण करती है जितना उस मनुष्य की जीवन-घटनाओं के साथ अविचल भाव से घुल-मिल सके। स्पष्टतः यह स्वानुभव के केन्द्र पर समंजन की बात है, आतंक की नहीं।

संस्कृति व्यापक अर्थबोधक शब्द है। प्राथमिक स्तर पर इसका अर्थ है–ज्ञान और कर्म के क्षेत्र में पूर्वजों द्वारा उपलब्ध की गयी सर्वोत्तम वस्तु। उच्चतर और मूल अवस्था में पहुँचकर यह राष्ट्र की आत्मा हो जाती है। इसी कारण वेद में इसे 'चित' या 'चिति' कहा गया है। आज की लोकप्रिय मीमांसा पद्धति मनोविज्ञान यह मानता है कि चेतन मस्तिष्क मात्र निमित्त कारण है। उसे अचेतन मस्तिष्क संचालित और नियंत्रित करता है। व्यक्ति के स्तर पर जो स्थिति अचेतन मस्तिष्क की है, राष्ट्रीय-जातीय स्तर पर वही स्थिति संस्कृति की है। मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी माना गया है, यह अर्धसत्य है, पूर्ण सत्य यह है कि मनुष्य एक ऐतिहासिक प्राणी है। वह इतिहास के अनन्त प्रवाह से निर्मित हुआ है। इतिहास स्वयं संस्कृति की कुक्षि से जन्म लेता है। इस प्रकार, मनुष्य समाज से, समाज इतिहास से और इतिहास संस्कृति से जन्म लेता है। प्राचीन मान्यता है कि मनुष्य एक शाश्वत धर्म के सहारे जीता है। आधुनिक मान्यता धर्म के स्थान पर संस्कृति को रखती है।

संस्कृति का विलोम प्रकृति है। प्रकृति का सम्बन्ध आपाततः भूतद्रव्य या भौतिक तत्त्व से होता है। भौतिक तत्त्व क्या है? यशदेव शल्य ने लिखा है कि वास्तव में कुछ तत्त्व भौतिक तत्त्व नहीं है। वास्तव में केवल ईंट, पत्थर, आग और जल आदि ही हैं। 'भौतिक तत्त्व' अनुभव के एक आयाम की अवधारणा की संज्ञा है। यह एक अवधारणात्मक अर्थ है और परिणामतः ज्ञानस्वरूप है। इसी कारण डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डे यह स्पष्ट करते हैं कि प्रकृति तार्किक ज्ञान का रचित विषय है, संस्कृति निजानुभूति का प्रकार है। जिन मूल प्रत्ययों द्वारा दोनों विकल्पित होते हैं, वे भिन्न-भिन्न हैं। तत्त्वतः प्रकृति एक ऐसी व्यवस्था है जिसका ज्ञान इन्द्रियगोचर प्रतिभासों के विश्लेषण-संश्लेषण से सम्पन्न होता है। इस ज्ञान के मूल प्रत्यय देश और काल, द्रव्य और कारणता आदि हैं। दूसरी ओर संस्कृति एक मूल्य व्यवस्था है जिसका ज्ञान संकेत गोचर आत्मबोध के अथवा आदर्शबोध के विवेचन से होता है। एषणीयता और औचित्य-अनन्तता और स्वतन्त्रता आदि द्वन्द्वात्मक प्रत्ययों से यह ज्ञान व्यवस्थित है। हमारा प्रकृति बोध एक अनात्म सत्ता के दबाव के अनुभव से प्रारम्भ होता है जबकि संस्कृति-बोध का आरम्भ, आत्मिक अथवा आदर्श सत्ता के संकेत अथवा प्रतिबिम्ब को पहचानने से होता है। प्रकृति का

जगत् प्रत्यक्ष से निर्धारित, अपरिवर्त्तनीय कार्य-कारण-भाव से परिगृहीत जड़ वस्तुओं का बिम्ब है। सांस्कृतिक जगत् अर्थ-गवेषणा अथवा आत्मपर्येषणा के सनातन इतिहास की सांकेतिक अभिव्यक्तियों का विश्व है। यह स्मरणीय है कि उपाधि-भेद के कारण आत्मबोध की अनेक भूमियाँ हैं और उनके अतिक्रमण की क्रमिकता ही आध्यात्मिक यात्रा को एक सनातन मात्रा का रूप देती है।

डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डे के इस कथन से कई बातों का अर्थ-विभावन होने लगता है। यथा, संस्कृति विज्ञान का विषय नहीं है, सुतरां सामाजिक विज्ञान का भी नहीं, यह एक सामाजिक परम्परा का रूप धारण करती है। सामाजिक परम्परा होने के कारण उसका रूप विकासात्मक है, इस कारण उसमें ऐतिहासिकता अन्तर्निहित है, पर यह ऐतिहासिकता सभ्यता की बहिरंग कार्य-कारण, शृंखला नहीं है; अपितु अन्तरंग साधना की क्रमिकता है; ऐतिहासिक साक्ष्यों से उसका अनुमान किया जा सकता है, किन्तु आन्तरिक पक्ष इस प्रत्यक्ष अथवा अनुमित परम्परा की सांकेतिकता पर मनन के द्वारा ही उपलब्ध हो सकता है।

यह तो स्पष्ट है कि आचार्य द्विवेदी जी ने साहित्य-साधना के माध्यम से संस्कृति-साधना की है। परन्तु घोषित रूप से उन्होंने संस्कृति-साधना के स्थान पर 'शव-साधना' की बात की है, जिसका अर्थ 'इतिहास-साधना' है। परन्तु, इसके कारण यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि उनकी साधना मूलतः इतिहास-साधना है, संस्कृति-साधना नहीं। इतिहास और संस्कृति के कार्य-कारण-सम्बन्ध की व्याख्या के माध्यम से यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि इतिहास का जन्म-स्थल संस्कृति है। इस विषय पर हम आगे और विचार करेंगे। अभी यह देखा जाय कि आचार्य द्विवेदी जी की संस्कृति-साधना की प्रकृति क्या है?

यह बात कही जा चुकी है कि आचार्य द्विवेदीजी की आत्मिक संलग्नता भारतीय संस्कृति के प्रति है। भारतीय संस्कृति का परिचय देते हुए उन्होंने 'अशोक के फूल' में लिखा है कि अपनी भौगोलिक परिस्थिति और विशेष ऐतिहासिक परम्परा के भीतर से मनुष्य के सर्वोत्तम को प्रकाशित करने के लिए इस देश के लोगों ने भी कुछ प्रयास किये हैं। वह मनुष्य के सर्वोत्तम को जितना प्रकाशित और अग्रसर कर सका है उतने ही अंश में वह सार्थक और महान् है। वही भारतीय संस्कृति है। भारतीय संस्कृति का संरचनात्मक स्वरूप क्या है, इस पर अत्यन्त स्पष्टता के साथ उन्होंने 'अशोक के फूल' में ही विचार करते हुए लिखा है कि मुसलमानों के आने से पहले इस देश में नाना विश्वासों और विचारधाराओं के भेद से नाना प्रकार के धर्म प्रचलित थे। परन्तु जीवन के प्रति उनकी दृष्टि में एक विशेष प्रकार की एकरूपता थी। इस एकरूपता के कारण ही नाना मतों के माननेवाले, नाना स्तरों पर खड़े हुए, नाना मर्यादाओं में बँधे हुए अनेक जन-वर्ग एक सामान्य नाम से पुकारे जाने लगे। यह नाम था 'हिन्दू' अर्थात् 'भारतीय'। मध्ययुग

में भारतीय जन समूह दो मोटे विभागों में बँट गया–हिन्दू और मुसलमान। इस विभाजन का कारण जीवन के प्रति दृष्टिकोण की विभिन्नता थी। आचार्य जी का यह कथन रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'महामानव समुद्र' की धारणा का सही अर्थ-निरूपण है, विलोम नहीं।

भारत एक भौगोलिक इकाई भी है, राजनीतिक इकाई भी है और सांस्कृतिक इकाई भी है। यदि इसे क्रम दिया जाय तो प्रथम स्थान सांस्कृतिक इकाई को, दूसरा भौगोलिक इकाई को और तीसरा राजनीतिक इकाई को प्राप्त होगा। इस प्रकार भारत देश-भाव या स्थान-भाव से अधिक भारत-भाव है। भारत-भाव, मूलतः संस्कृति-भाव है। इसी कारण आचार्य द्विवेदी ने भारत को एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में स्वीकार करते हुए लिखा है कि हमारे देश का सांस्कृतिक इतिहास इस मजबूती के साथ अदृश्य विधाता के हाथों सी दिया गया है कि उसे सीमाओं में बाँधकर सोचा भी नहीं जा सकता। उसका एक टाँका काशी में मिल गया तो दूसरा बंगाल में। (कल्पलता) उन्होंने आगे यह भी लिखा है कि हमारी भाषा का पुराना साहित्य प्रान्तीय सीमाओं में बँधा नहीं है। आपको यदि हिन्दी साहित्य का अध्ययन करना है तो उसके पड़ोसी साहित्यों को जाने बिना आप घाटे में रहेंगे। (कल्पलता) इस अवधारणा को उन्होंने स्वयं अपने लेखन में घटित करके दिखाया। इसका प्रमाण यह है कि हिन्दी के काव्य-रूपों और भाव-तन्तुओं के मूल तक पहुँचने के लिए उन्होंने बँगला, गुजराती, मराठी, पंजाबी आदि विविध भारतीय भाषाओं के साहित्यों का सहारा लिया।

प्रश्न यह है कि संस्कृति और भारतीय संस्कृति के इस रूप को स्वीकार किया जा सकेगा, विशेषतः सामाजिक, संस्कृति का प्रचलित मानक होने और प्रगतिशील मानववादी पक्ष जिसका समन्वय आधुनिक विज्ञान एवं प्रविधि के साथ ही स्वीकृति होने से? आधुनिक प्रचलित मानक दृष्टि से जो बात कही जा रही है, उसका इतिहास-वैज्ञानिक आधार क्या है, यह पूरी तरह से अस्पष्ट है। कदाचित् इतिहास-विज्ञान से अधिक वहाँ पूर्वाग्रहपरक दृष्टि मुख्य है। इतिहास विज्ञान यह बताता है कि संस्कृति का सम्बन्ध जातीय विकास के अनुरूप बनता और निर्धारित होता है। भारतीय जनता ने अपनी विकास-यात्रा में अनगिनत दार्शनिक मान्यताओं, सम्प्रदायों, साधना-पद्धतियों, आचार-व्यवहारों तथा तैंतीस कोटि देव-देवियों की रचना की है। इस क्रम में उसने पुरुषार्थ चतुष्टय, कर्मफल-सिद्धान्त, पुनर्जन्म, वर्ण एवं आश्रम व्यवस्था, आचार की शुद्धता, सर्वभूत कल्याण-भावना, परमार्थ, सनातनता, दिव्यता, काल की महानियंत्रक सत्ता के रूप में स्वीकृत, सर्वधर्म समभाव, स्नेह और समन्वय, अध्यात्म और योग, प्रवृत्ति-निवृत्ति की अवधारणा, धर्म के दस नियमों की स्वीकृति, अनुभूति और अभिव्यक्ति की सारस्वत साधना तथा रस-सिद्धान्त का उदय-जैसी वस्तुओं का निर्माण कर उन्हें स्वायत्त और व्यवहृत किया है।

आचार्य द्विवेदी को भारतीय जनता की इस तात्त्विक उपलब्धि का यदि परिचय नहीं रहता

तो वह उस मूल उत्स को पहचान पाने में सक्षम नहीं होते और तब बात कुछ और होती। परन्तु, सौभाग्य से वह 'और कुछ' नहीं हो पाया। इसी कारण उन्होंने लिखा है कि सम्पूर्ण भारतीय अपने मूल उत्स से समर्पित होने का दावा करता है। कुछ थोड़े से अपवादों को छोड़कर यह बात इसके किसी काल और किसी प्रदेश के साहित्य के बारे में सत्य कही जा सकती है। अपवादों में एक दूसरे प्रकार की निष्ठा और संयम के भाव मिलते हैं। (ग्र० ९/१७२)

उत्स की समानता उपजीव्य की समानता को स्वभावत: निर्धारित कर देती है। रामायण और महाभारत से कथानक और जीवनी शक्ति प्राप्त करके संस्कृत, प्राकृत, पालि, अपभ्रंश और हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य रचे गये हैं। यहाँ जो नवीन प्रयोग हुए हैं वहाँ भी लक्ष्य और साधन की समानता है। उदाहरणार्थ लोक साहित्य। आचार्य द्विवेदी जी की टिप्पणी यों ही नहीं है कि जिन लोगों ने विशुद्ध लोकपरक साहित्य लिखा है वे भी घूम-फिरकर अन्त में इस निष्कर्ष पर ही पहुँचे हैं कि भोग-सुख क्षणिक है, इन्द्रियों की दासता गलत चीज है, अन्तरतर की ज्योति के आलोक में चलना ही वास्तविक सुख का हेतु है। (ग्र० ९/१७२)

भाषा की दृष्टि से देखें तो विरल अपवादों को छोड़कर भारतीय भाषाएँ संस्कृत से एक विशिष्ट प्रक्रियान्तर्गत विकसित हुई हैं। उनमें लिप्यंतरण हो सकता है, ध्वनि-भेद भी है, परन्तु भाषा का जो दार्शनिक और वैयाकरणिक स्वरूप पाणिनि, पतंजलि और यास्क ने गढ़ा था, वह ज्यों का त्यों है। ये भाषाएँ उनसे भी आगे अपने मूल आद्यरूप तक से सम्बद्ध हैं।

संस्कृति-सम्बन्धी इस विवेचन का निष्कर्ष हम पंडित विद्यानिवास मिश्र के शब्दों में यथावत् प्रस्तुत करना चाहेंगे—भारतीय परम्परा की दो आधारभूत मान्यताएँ हैं—जीवन की अखण्डता और जीवन की निरन्तरता। भारत के आस्तिक दर्शन, नास्तिक दर्शन हों, वैष्णव साधना हो, शैव साधना हो, महाभाव हो, कैवल्य साधना हो, यज्ञ हो, उपासना हो, दैनन्दिन जीवन हो, साहित्य हो या कोई अन्य सर्जनात्मक व्यापार हो, कोई भी प्रयोग हो, नाट्य रूप हो या रसायन सिद्धि हो, सर्वत्र इन दोनों आधारभूत बीजधारणाओं का ही किसी-न-किसी रूप में पल्लवन और कुसुमन दिखाई पड़ेगा। किसी ने जन्मान्तरवाद को इसकी उपपत्ति मान ली, किसी ने विज्ञान-सन्तान की अवधारणा को। किसी ने सूत्रात्मक की अवधारणा की, किसी ने लताओं, पुष्पों और पक्षियों की बेल बनाकर इन्हें द्योतित किया, किसी ने करुणा के माध्यम से अखण्डता साधी, किसी ने पिण्ड-ब्रह्माण्ड के बिम्बानुबिम्ब से। अनेक अभिव्यक्तियों में ये मान्यताएँ प्रतिफलित हुईं। (पूर्वग्रह, अंक : ७०-७१)

पंडित विद्यानिवास मिश्र जी ने अखण्डता और निरन्तरता को बीज-आधार के रूप में चिह्नित किया है, यह स्वाभाविक निष्कर्ष है। अखण्डता और निरन्तरता पूरक हैं। अखण्डता और निरन्तरता को बनाये बिना कोई भी संस्कृति अपने मूल रूप को बनाये नहीं रख सकती और वैसी

अवस्था में वह काल कवलित हो जाती है। अखण्डता और अविच्छिन्नता का व्यावहारिक अर्थ यह है कि जब किसी जाति या राष्ट्र के लोग एक जीवन-विधि विकसित करते और सुदीर्घ कालावधि पर्यन्त उस पर निरन्तर चलते हैं तो उसकी अभिव्यक्ति समान परम्पराओं में, समान संस्थाओं के रूप में, समान नैतिक मूल्यों में, समान आचार-व्यवहार में, समान सौन्दर्य दृष्टि में तथा उन उपलब्धियों और सफलताओं पर जिन पर हम समान रूप से गर्व कर सकते हैं। अपनी निरन्तरता खो चुकी संस्कृति पूरे राष्ट्रीय सन्दर्भ में एक नहीं रह सकती। तब उस पर क्षेत्रीयता का प्रभाव मुख्य हो जाता है।

भारतीय संस्कृति की अखण्डता और निरन्तरता इसकी ग्राहिका शक्ति का परिणाम है। इस देश पर अनेक आक्रमण हुए। कुछ सभ्य पर अधिकांश में बर्बर जातियाँ यहाँ आयीं। ग्रीक, बैक्ट्रियन, पार्थियन, शक, कुषाण, हूण, अरब, तुर्क, मंगोल, फ्रेंच, पोर्चुगीज, डच, अँगरेज आदि अपनी सभ्यता-संस्कृतियों के साथ यहाँ आयीं। उन्होंने राज्य क्रान्तियाँ की, बड़े-बड़े प्रदेश जीते, इतिहास की गति बदल दी। परन्तु वे सर्वसमावेशी भारतीय संस्कृति में समा गयीं। अनेक बर्बर जातियों की तलवारें इस देश की सभ्यता-संस्कृति को काट नहीं सकीं।

साहित्य युगानुसारी होता है, यह आजकल का बड़ा प्रचलित सिद्धान्त है। साहित्य युगानुसारी हो ही यह कोई अनिवार्य नियम नहीं है। पर, साहित्य अपनी संस्कृति से प्रादुर्भूत होकर उसे अभिव्यक्त और उदाहृत करता है, यह अनिवार्य है। भारतीय साहित्य में, उसकी संस्कृति की अभिव्यक्ति हुई है, इसे स्पष्ट करने के लिए हमने मूल स्रोत और समान उपजीव्य आदि की बातें पहले की हैं। हिन्दी साहित्य, विशेषत: आचार्य द्विवेदी की एतद्विषयक स्थिति पर भी हमने यथा-प्रसंग चर्चा की है। अब हम सीधे इस बात पर विचार करना चाहेंगे कि उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास को अविच्छिन्न भारतीय चिन्ताधारा का विकास कहा है, तो इसका क्या अर्थ है और क्या हिन्दी साहित्य के इतिहास में उस अविच्छिन्न चिन्ताधारा को विद्यमान और क्रियमाण होता हुआ पाते हैं? भारतीय चिन्ताधारा क्या है? बात यहीं से आरम्भ की जाय। इस बात का इस विषय का संक्षिप्त परिचय देना सर्वथा असम्भव होते हुए भी हम यह कहेंगे कि वैदिक और औपनिषदिक् चिन्तन का मूलाधार, दार्शनिक चिन्तकों और साधना पद्धतियों का सम्भार, लोक-दृष्टि और साहित्य-दृष्टि तथा उनमें विद्यमान जीवन-बोध तथा सौन्दर्य-बोध, आसेतु हिमालय की परम्परा, प्रकृति और सहचरी क्रियाओं-उपक्रियाओं का बोध, आत्म-अनात्म, योग-अध्यात्म आदि से नियमित और मानव-देह की परम पवित्रता की भावना, रहस्यानुभूति और उनमें भी अद्वैतानुभूति, स्थूल-गोचर भौतिक जीवन में रहते, उसे जीते और सँवारते हुए रस और आनन्द की अलौकिक अनुभूति, अन्तर्दृष्टि एवं आध्यात्मिक भावना, भौतिक जीवन की स्वीकृति पर उसकी क्षणभंगुरता का बोध तथा इन्द्रियार्थ कर्म से बचाव, ईश्वर

के प्रति रागात्मिका भक्ति आदि कुछ मुख्य और मूल भाव हैं, जिन्हें हम भारतीय चिन्ताधारा की आधार-पीठिका मान सकते हैं। समासतः, भारतीय चिन्ताधारा एक भावबोध है जिसे हिन्दी साहित्य ने कभी विस्मृत नहीं होने दिया। इसके आदिकाल के साहित्य से आधुनिक-अत्याधुनिक काल तक के साहित्य में यह मुख्य है। आचार्य द्विवेदी जी ने इसे ही लक्षित करके हिन्दी साहित्य के इतिहास को भारतीय चिन्ताधारा का स्वाभाविक विकास माना है। उनकी इस स्थापना को हिन्दी में साहित्येतिहास दर्शन के प्रवर्त्तक आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के पाँच सदानीरा महान् परम्पराओं–भौतिक (मर्यादित और अतिवादी), यथार्थता, मानववाद, मानवतावाद और धार्मिकता–के उपस्थापन से समर्थित किया है।

भारतीय संस्कति की अविच्छिन्नता और निरन्तरता का मूल भाव, हिन्दी साहित्य में भारतीय चिन्ताधारा का विकास के रूप में नामान्तरित हुआ है, यह बात ध्यान में रखने-योग्य है। इस विषय पर पूर्व अनुच्छेद में सूत्रात्मक रूप में जो बात कही जा चुकी है, उसे हम उनके साहित्येतिहास-लेखन के साक्ष्य में देखना और समझना आवश्यक समझते हैं। हिन्दी साहित्य का इतिहास-लेखन करते समय उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि इसका काल, युगधारा तथा काव्य-रूप पूर्ववर्ती युगों से चली आ रही परम्परा से अविभाज्य रूप में जुड़ा हुआ है। इसके लिए उन्होंने तीन उदाहरण दिये हैं–(क) आधुनिक हिन्दी काव्य की विधाएँ और रूप अपभ्रंशकालीन काव्यरूप से जुड़े हुए हैं। अर्थात् आधुनिक काल की जड़ आदिकाल में है, दोनों के बीच कालगत लम्बा अन्तराल होने के बाद भी। उनके शब्द हैं, आधुनिक युग आरम्भ होने के पहले हिन्दी कविता के प्रधानतः छह अंग थे। इन छहों धाराओं की आलोचना अगर अलग करें तो देखेंगे कि ये छहों धाराएँ अपभ्रंश कविता का स्वाभाविक विकास हैं। (हिन्दी साहित्य की भूमिका), (ख) कबीर का आक्रोश और प्रहारक शक्तियाँ उनके पूर्ववर्ती नाथों-सिद्धों में विद्यमान हैं, (ग) भक्ति काव्य 'मुसलामानी जोश' या 'प्रतिक्रिया' का परिणाम नहीं है। उसकी सुदीर्घ परम्परा शास्त्र और लोक में विद्यमान है।

अखण्डता, अविच्छिन्नता और निरन्तरतावादी इस दृष्टि को ध्यान में रखा जाय तो 'हिन्दी जाति'-जैसी अभिधा सम्पूर्ण भाव-जगत् को अभिव्यक्त कर पाने में असमर्थ हो जाती है और उसी प्रकार 'दूसरी परम्परा' की अवधारणा का औचित्य भी विचारणीय हो जाता है।

संस्कृति और मूल्य

संस्कृति में 'नेयार्थ' का गुण होना अनिवार्य है। नेय और अर्थ के मेल से विनिर्मित इस भाष्य में पूर्व पद 'नेय' का अर्थ है वहनीय और धारणीय। नेय अर्थात् वहनीय और धारणीय मूल्य होता है। मूल्य के तत्त्व को पाने के लिए संस्कृति को अतीत से वर्तमान और वर्तमान से भविष्यत् में धारण किया जाता है। अर्थ से हमारा अभिप्राय 'अन्वेष्यार्थ' है। अन्वेष्यार्थ इसलिए

कि संस्कृति जहाँ एक ओर कालावधि की सुदीर्घता में अनुभूत जीवन-सत्य की अवधारणा है, वहीं दूसरी ओर काल में ही सम्भाव्य का चरितार्थन भी है।

संस्कृति की प्राणसत्ता मूल्य के अस्तित्व, प्रकार, स्वरूप, व्यापकत्व, और गहराई पर निर्भर करती है। एकदेशीय सीमित, संकीर्ण और तात्कालिक आवश्यकताओं से उत्पन्न या विदेशी प्रभाव से विमोहित मूल्य संस्कृति की अविच्छिन्नता और निरन्तरता को बचाये नहीं रख सकता। वैसी स्थिति में उस संस्कृति के जीवित रहने में सन्देह होता है। ऐसा मूल्य उस सांस्कृतिक समाज के भावबोध और जीवनबोध का निर्माण नहीं कर सकता। मूल्य संस्कृति की आत्मा है या संस्कृति मूल्य की आत्मा? इस पर विस्तार से विचार किया जा सकता है। हम यहाँ इतना-भर कहकर संतोष करना चाहेंगे कि मूल्य को अधिगृहीत, संरक्षित और चरितार्थ करने का प्रत्यक्ष माध्यम संस्कृति है।

सामान्य और विशिष्ट, दोनों दृष्टियों से मूल्य के अर्थ पर विचार किया जा सकता है। सामान्य दृष्टि से मूल्य का अर्थ है नैतिक न्याय। ई० एच० कार का कथन है कि हीगेल, मार्क्स स्पेंगलर, टायनबी आदि दार्शनिक इतिहासकारों ने नैतिकता तथा निहितार्थ के परिप्रेक्ष्य में तथ्यों का अन्वेषण किया है। इतिहास के तथ्यों के पीछे नैतिक व्याख्या होती है। झारखंडे राय इसी बात को इस रूप में रखते हैं कि यदि इतिहासकार अपनी ऐतिहासिक व्याख्या में मनुष्य के स्वभाव का विवरण प्रस्तुत करता है तो यह स्वाभाविक है कि वह मनुष्य के अच्छे तथा बुरे कार्यों पर प्रकाश डालेगा। कार्यों पर प्रकाश डालने का तात्पर्य नैतिक न्याय होता है।

मूल्य का विशिष्ट अर्थ, सूक्ष्मतर और उच्चतर अर्थ सम्पोषित है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की अवधारणा इसे स्पष्ट करने के लिए एक निश्चित आधार-सूत्र प्रदान करती है। संस्कृति और इतिहास तथ्यों का संग्रह नहीं है। ये दोनों मनुष्य की सापेक्षता में जीवन्त होते हैं। 'मनुष्य क्यों?' जब यह प्रश्न उठता है तब केवल ऐतिहासिक तथ्यात्मकता के आधार पर उसका उत्तर देना सम्भव नहीं हो सकता। तब उत्तर पाने के लिए ऐतिहासिक तथ्यों से परे जाकर किसी बृहत्तर अस्तित्व की कल्पना या स्वीकृति अनिवार्य हो जाती है। मानव का अस्तित्व, इस प्रकार, ऐतिहासिक अस्तित्व न रहकर, एक नैतिक या मूल्यात्मक अस्तित्व बन जाता है। इतिहास का अध्ययन करना हो या संस्कृति का, नैतिक मानदण्ड या मूल्यबोध के बिना वह सम्भव नहीं है।

आर्थिक विषय देहबद्ध मनुष्य के चिन्तन और क्रियाकलापों का यदि प्रथम प्रिय विषय बनता है, तो इसे अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता। किन्तु, इससे संस्कृति के छन्द को पाने और समझने की दिशा में एक उपाय, एक साधना के अतिरिक्त और कुछ नहीं माना जा सकता; विशेषतः तब जब यह स्पष्ट हो चुका है कि जीवन या संस्कृति का छन्द नैतिक होकर, आत्मप्रतिदान करके बृहत्तर के साथ समायोजन से ही प्राप्त होता है। इसमें नैतिक होना निश्चय

ही मूलाधार है। श्री लीलाधर गुप्त का कथन ध्यान देने योग्य है कि नैतिक मनुष्य में आर्थिक मनुष्य का-सा साहस और अभिनिवेश तो होता ही है, उसमें इन गुणों के साथ-साथ सन्त या वीर की-सी धर्मपरायणता भी होती है। यदि आर्थिक मनुष्य विफल होता है, तो उसका पछतावा आर्थिक ही होता है, परन्तु जब नैतिक मनुष्य विफल होता है, तब उसका पछतावा नैतिक भी होता है और आर्थिक भी होता है। नैतिक मनुष्य में आर्थिक मनुष्य का समावेश होता है, जैसे विज्ञान का आधिपत्य एस्थैटिक अन्तर्दृष्टि पर है, ठीक वैसे ही, नीति का आधिपत्य संकल्प-प्रवृत्तियों पर है। हम प्रत्यय पर तब पहुँचते हैं, जब प्रज्ञा बहुत से एस्थैटिक कला-मीमांसा-संबंधी तथ्यों में कोई एक सामान्य गुण का निरीक्षण करती है; इसी प्रकार हम किसी नैतिक नियम तक तब पहुँचते हैं जब प्रज्ञा बहुत से आर्थिक कार्यों में किसी सामान्य गुण का निरीक्षण करती है। जैसे प्रत्येक तार्किक कथन का कला मीमांसा-संबंधी पहलू होता है, वैसे ही प्रत्येक नैतिक कार्य का उपयोगी पहलू होता है। जैसे कला मीमांसा-संबंधी अन्तर्दृष्टि प्रतिरोध विषय या प्रकृति को जानती है और तत्त्वज्ञान-संबंधी प्रत्यय प्रतिबोधाधार (नौमिनॉन) या अन्त:करण को जानता है; ऐसे ही आर्थिक क्रियाशीलता प्रतिबोध विषय या प्रवृत्ति का संकल्प करती है और नैतिक क्रियाशीलता प्रतिबोधाधार या अंत:करण का संकल्प करती है। नैतिकता का सार अपने का ही संकल्प करना है। श्री लीलाधर गुप्त के इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि नैतिक मनुष्य होना आर्थिक मनुष्य होने का निषेध नहीं है। बल्कि यह कहा जा सकता है कि नैतिक हुए बिना आर्थिक मनुष्य नहीं हुआ जा सकता। नैतिकताहीन आर्थिक होना एक असम्भव कल्पना है। अत: शुद्ध आर्थिकता एक दुष्प्राप्य स्थिति है। काव्य, कला और इतिहास में ऐसे मनुष्यों की संख्या कम है, जिन्होंने बिना किसी नैतिक आदर्श के सफलता से काम किया हो। विश्व साहित्य के महावृत्त में शुद्ध मौलिकता या आर्थिकता-आधारित रचनाएँ अत्यल्प हैं, जिन्हें हम मानवीय चिन्तन और कारयित्री प्रतिभा के उच्चादर्श के रूप में देखते हैं, वे रामायण, महाभारत हों या कामायनी, उर्वशी, गोदान हों या गीतांजलि हों या पैराडाइज लॉस्ट या शुद्ध और शान्ति हों, शुद्ध आर्थिकता या भौतिकता की लघुता की सीमा से बाहर की रचनाएँ हैं।

इसी कारण डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डे यह मानते हैं कि मूल्येषणा या अर्थेषणा में उसका स्वातंत्र्य की ओर उद्दिष्ट होना है। यह स्वतन्त्रता पुरुष-तंत्रता हो सकती है, प्रकृति-तंत्रता नहीं, क्योंकि प्रकृति परतंत्र-लक्षण है। जो विचारक मूल्य को मानवीय रचना या इष्ट विषय मानते हैं उन्हें इस तथ्य पर विचार करना चाहिए। मूल्यानुभूति में विषय और विषयी दोनों रूपान्तरित हो जाते हैं। वास्तव में प्राकृतिक वस्तुओं का प्राकृत कर्त्ता और भोक्ता का मूल्य-विश्व में प्रवेश ही नहीं होता, प्रवेश का अधिकारी होता है, ऐसा विषयी जो अपने निषेध के साथ उसके अन्तर्व्याप्त स्वसंवेदन के साथ जुड़ा रहता है, जैसे स्वप्नदर्शी स्वप्न के साथ। मूल्य की साध्यता

अभिव्यंग्यात्मकता मात्र होती है। उसकी एक ही साथ साक्षात्कारात्मक और विवेचनात्मक है; क्योंकि मूल्य की खोज में इच्छा और विवेक इस प्रकार सम्मिलित रहते हैं कि खोज का विषय सदा ही क्षितिज के समान पीछे हटता रहता है। यथार्थ की कोई भी उपलब्धि आदर्श की तुलना के समक्ष पर्याप्त रूप में हृदयावर्जक और विवेक-सम्मत नहीं हो सकती।

आचार्य द्विवेदी जी ने इतिहास, साहित्य और साथ ही भारतीय जन-जीवन में चली आ रही भ्रान्तियों का खण्डन ठोस प्रमाणपूर्वक किया है। उनकी इस सफलता और उपलब्धि के पीछे उनकी संस्कृति के प्रति अनन्य निष्ठा एवं उसी संस्कृति के साथ युगपत् भाव से जुड़े रहने वाले मूल्यानुसन्धान के साथ उनका जुड़ाव होना है। यह बात उनमें भारतीय साहित्य और लोकजीवन के अवबोधन से तो आयी ही, साथ ही शान्तिनिकेतन में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सान्निध्य से भी आयी। शान्तिनिकेतन में उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय नवजागरण की उष्मा को आत्मसात किया, मानवतावाद की दीक्षा ली, लोकतत्व की महत्ता समझी, औपनिषदिक् चिन्तन को अपनी चेतना में साक्षात्कृत किया, रूढ़िवादिता का परित्याग और नयी वैज्ञानिक दृष्टि को स्वीकार किया, अखिल भारतीय के साथ विश्वव्यापी छन्दोधारा का स्पन्दन प्राप्त किया, सौन्दर्यबोध की रहस्यात्मक एवं आध्यात्मिक तत्त्वज्ञता को पहचाना और यह अनुभव किया कि साहित्य की प्राणसत्ता उसके संयोजकत्व धर्म में सुरक्षित है। इन सबके परिणामस्वरूप उन्हें यह बात समझने में थोड़ा भी विलम्ब नहीं हुआ कि मानवतावाद कोई नितान्त भावात्मक और सैद्धान्तिक विचार नहीं है, अपितु यह अद्वय भावापन्न समानुभूति की गहरी आत्मिक उपलब्धि है। इस उपलब्धि के कारण न केवल उनकी चेतना का परिवेश बदला अपितु उसका प्रत्यक्ष परिणाम उनके चिन्तन पर पड़ा जिसका प्रमाण है उनका लेखन जो समकालीनों में नहीं, भारतीय साहित्य-परम्परा में भी विशिष्ट महत्त्व का अधिकारी है। यह अधिकार परम्परित चिन्तन और लेखन में ज्ञान मीमांसात्मक दरार उत्पन्न कर सकने की उनकी क्षमता के कारण उन्हें प्राप्त हुआ है। और, यहाँ पुनः एक बार यह कहना उचित लग रहा है कि इसके पीछे संस्कृति-निष्ठा और मूल्यानुसन्धान है। यहाँ यह बात कह देना भी आवश्यक है कि कालिदास की अद्वैत निस्संगता और शैवों का निरालस आनन्द उनके यहाँ वैष्णवी श्रद्धा में परिणत हो गये हैं और उनका एक ही अभिप्राय है आत्ममुग्धता के स्थान पर समाजोन्मुखता, संकुचन के स्थान पर विस्तारण और प्रस्तारण।

आचार्य द्विवेदी जी सौन्दर्यवादी नहीं थे, चित्त विस्तारवादी थे। 'कालिदास की लालित्य योजना' का बीजाधार चित्त विस्तार है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे नितान्त भाववादी थे। उन्होंने मानव-जाति के समक्ष बहुत ही ठोस और बहुत ही स्पष्ट मूल्य-चेतना का प्रारूप रखा है और उसे अपनी रचनाओं में विनियोजित करके भी दिखाया है। यदि उनकी मूल्य-चेतना को शीर्षकांकित किया जाय तो वे प्रमुखतः इस प्रकार बनेंगे–मानवतावाद और मानवीय संवेदना

की प्रमुखता, इतिहास को अध्यात्मोन्मुख यथार्थवादी दृष्टि से देखना, अस्तित्ववाद और मनोविश्लेषणवाद का निषेध, ज्ञान-इच्छा और कर्म का त्रित्व और उनका समन्वय, लोकचित्त को ही धर्मभाव समझना, वैयक्तिक साधना की अपूर्णता, आत्मस्थ सत्य को पहचानने पर बल, निर्भयता, नारी को शक्ति और प्रेरणा की प्राणधारिका मानना, आचरण की श्रेष्ठता का महत्त्व, सम्प्रदायवादी इतिहास-दृष्टि का निषेध, भविष्योन्मुख जीवन-दृष्टि, मूल्यवादी इतिहास-लेखन, मूल्य निषेचनवाद आदि।

इनमें से एक-एक का विस्तार अपेक्षित है, किन्तु उसके स्थान पर हम उनकी रचनाओं से कुछ सन्दर्भ उदाहृत करना अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त समझते हैं। और वह इसलिए कि सूत्र और शीर्षक से अधिक महत्त्वपूर्ण प्रमाण होता है। द्रष्टव्य हैं कुछ प्रमाण–

"हमें पूर्व या पश्चिम, या भारतीय-अभारतीय आदि कृत्रिम विभाजनों के अर्थ-हीन परिवेष्टनों से अपने को घेर कर नहीं रखना चाहिए। अगर जरूरत हो तो तथाकथित आध्यात्मिक विशेषणों से विशिष्यमान उपचारों और मनोविकारों का अतिक्रमण करके भी विश्वजनीन सत्य को जानने की कोशिश करनी चाहिए।" (ग्र० ९/२२१)

'हमारे समस्त प्रयत्नों का लक्ष्य एक मात्र वही मनुष्य है। उसको वर्तमान दुर्गति से बचाकर मनुष्य के आत्यन्तिक कल्याण की ओर उन्मुख करना ही हमारा लक्ष्य है, वही सत्य है, वही धर्म है, सत्य वह नहीं है जो मुख से बोलते हैं, सत्य वह है जो मनुष्य के आत्यन्तिक कल्याण के लिए किया जाता है।' (अशोक के फूल)

'साहित्य यदि जनता के भीतर आत्मविश्वास और अधिकार चेतना की संजीवनी शक्ति नहीं संचारित करता, तो परिणाम बड़े भयंकर होंगे।' (सावधानी की आवश्यकता)

'हमारे साहित्य में आज ऐसे दृढ़चेता चरित्रों की कमी महसूस हो रही है, जो विसंगतियों की झंझा में पहाड़ के समान अटल बने रहते हैं, जूझने का अवसर आने पर, सौ गुना उत्साहित हो जाते हैं और प्रलोभनों के विशाल व्यूह में जो अपने कर्त्तव्य पथ से तिल मात्र विचलित नहीं होते। आज हमें ऐसे साहित्य की आवश्यकता है, जो हमारे युवकों में मनुष्यता के लिए बलि होने की उमंग पैदा करे और अपने अधिकारों की रक्षा के लिए मिट जाने के लिए आकुंठ साहस का संचार करे।' (सावधानी की आवश्यकता)

'त्याग और भोग के सामंजस्य से ही जीवन चरितार्थ होता है। एकांत वैराग्य के यथोचित सामंजस्य में ही मनुष्य जीवन की चरितार्थता है। जो प्रेम केवल शारीरिक आकर्षण पर निर्भर होता है, वह क्षणस्थायी होता है। जब तक वह तपस्या की अग्नि से जलकर नहीं निकलता तब तक वह बंध्य है, निष्फल है। पार्वती का जीवन तपस्या और प्रेम का सामंजस्य है, शिव का भोग

और वैराग्य का।' (कालिदास की लालित्य योजना)

'एकांत का तप तप नहीं है।' (अनामदास का पोथा)

'दूसरों के सुख के लिए अपने को दलित द्राक्षा के समान दे देना इससे बड़ा तप मुझे मालूम नहीं।' (अनामदास का पोथा)

'जब तक तुम पुरुष और नारी का भेद नहीं भूल जाते, तब तक तुम अधूरे हो, अपूर्ण हो, अशक्त हो।' (बाणभट्ट की आत्मकथा)

'सब को अपने किये का फल भोगना पड़ता है—व्यक्ति को भी, जाति को भी, देश को भी।' (चारुचन्द्रलेख)

'किसी से न डरना, गुरु से भी नहीं, मंत्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं।' (बाणभट्ट की आत्मकथा)

'धर्म का तत्त्व बहुत गहराई में होता है, ऊपर-ऊपर से देखने वाले उसे समझ नहीं पाते।' (पुनर्नवा)

इस प्रकार के शताधिक उदाहरण देकर यह प्रमाणित किया जा सकता है कि उनके यहाँ हवा में कुछ भी डोलते रहने के स्थान पर उनका ठोस नैतिक अधिष्ठान है। यह इसलिए कि नैतिकता ही सभ्यता और संस्कृति के मध्य सम्बन्ध-संस्थापन का सेतु बनता है। यहाँ यह बात अनिवार्य रूप से ध्यान में रखनी चाहिए कि उनका मूल्य-दर्शन न तो कृत्रिम है और न ही हठीला। इसी कारण तो उन्होंने एक निचली जाति की उपेक्षिता, पर जीवन की पाठशाला में पारंगता निपुणिका को अभिजात वर्ग की कन्या चन्द्रदधीति के उद्धार का कृतित्व दिया, छोटी भूख-प्यास को बड़ी भूख और प्यास से जोड़कर 'रैक्वाख्यान' की रचना की, तंत्रों की साधना में विश्वव्यापी रागप्रसार को समझने की क्षमता देखकर उस रंग में वैष्णव भाव को रँग दिया, ब्राह्मण और श्रमण संस्कृतियों के पार्थक्य की दीक्षा प्राप्त करके भी उनकी मूलभूत एकता पर से ध्यान नहीं हटाया, मानवतावाद को बहुत ऊँचा मूल्य देकर भी नास्तिक होने के स्थान पर परम आस्तिक, धर्मभीरु आस्तिक बने, साहित्य के संयोजक धर्म पर से अपनी दृष्टि कभी हटायी नहीं—उन्हें साहित्य के विनायक धर्म की सदैव चिन्ता रही—विनायक धर्म अर्थात् वह धर्म जो स्थूल जगत् में अभीष्ट पदार्थ को प्रकाशित करता है और सूक्ष्म भाव जगत् में रस को; विनायक धर्म इष्ट का संयोजक धर्म है, विशेष की ओर ले जाने वाला धर्म है।

संस्कृति और इतिहास

संस्कृति-रूपी 'परा' केन्द्र के विस्तारक आयामों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इतिहास है। इतिहास शब्द विभावन (Conception) की सापेक्षता में विविध अर्थ-प्रकारों और दार्शनिक

प्रत्ययों तथा व्यूहों-प्रतिव्यूहों में इतना विभक्त हो चुका है कि उसके किसी समान और प्रायः सबके द्वारा स्वीकारणीय अर्थ की प्राप्ति में कठिनाई होती है। यह कठिनाई उक्त कारणों के साथ इस कारण से भी है कि हम इसके मौलिक आधार संस्कृति के तत्त्वतल पर देखने के स्थान पर उसे इतर अनुषंगों में देखते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि इतिहास व्यक्ति की प्रतिभा के द्वारा संस्कृति का उत्कीर्णन है।

इतिहास के तत्त्व दिक् और काल हैं। दिक् स्थिति तत्त्व और काल गति तत्त्व हैं। इतिहास में गति का मापन होता है। अतएव, यहाँ दिक् की अपेक्षा काल महत्त्वपूर्ण हो जाता है। घटना और स्मृति काल-गर्भ से उद्‌भूत होकर उसी में समा जाती हैं।

'काल' शब्द सामान्य और विशिष्ट दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। सामान्य अर्थ में यह 'समय' या 'अवधि' का वाचक है। विशिष्ट अर्थ के स्तर पर यह साधनापरक और दार्शनिक अर्थ देता है। महाकवि भवभूति ने अपने सुप्रसिद्ध श्लोक 'अनन्त कालं बहुला च पृथिवी' के प्रसंग में उसे निरवधि माना है। अनन्तता और निरवधि होने का भाव काल को एक दार्शनिक, रहस्यात्मक और सूक्ष्म अर्थ देता है। वैदिक और औपनिषदिक व्याख्याओं में इसके इस रूप की विशद् व्याख्या की गयी है। अब तो वैज्ञानिक चिन्तन भी इसे स्वीकार करने लगा है। आशय यह है कि विशिष्ट अर्थ में काल विश्व की आत्मा है। काल वह सर्वोच्च शक्ति है जिसका शासन सब पर चलता है और उस पर किसी का शासन नहीं चलता। जगत् की सभी क्रियाएँ, सभी अवतार, सभी निर्माण, सभी ध्वंस उसकी सुनिश्चित योजनानुसार होते हैं। वह उत्पन्न करता है, संचालित करता है और ध्वंस भी करता है। वह सबकी माता है और सबका नियन्ता भी। इस प्रकार वह 'समय' और 'अवधि' से भिन्न एक सनातन-शाश्वत सत्ता के रूप में अधिष्ठित है। प्रथम रूप– समय और अवधि वाला रूप, इसका भौतिक रूप है और दूसरा रूप सनातन। आचार्य द्विवेदी जी ने काल के स्थूल भौतिक रूप को स्वीकार कर उससे संलग्न व्यतिक्रम और विसंगतियों, आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक समस्याओं तथा उसके ऐतिहासिक क्रम में विकास की बड़ी ठोस व्यंजना की है, किन्तु उनके लिए काल का दूसरा रूप अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रथम अर्थ, उनके लिए यद्यपि उपेक्षणीय नहीं है, परन्तु उनका इतिहास दार्शनिक लगाव दूसरे अर्थ के प्रति है। वे इस दूसरे अर्थ के माध्यम से ही प्रथम अर्थ की भी न केवल व्याख्या करते हैं, अपितु उसे और अधिक स्पष्ट कर देते हैं। अपनी औपन्यासिक कृति 'पुनर्नवा' में महाकाल के रूपक-द्वारा उन्होंने काल के इन अर्थों को एक संश्लिष्ट रूप दिया है–'उज्जयिनी में महाकाल देवता का निवास है। महाकाल केवल गति मात्र हैं, निरन्तर धावमान गति, एक क्षण के लिए भी न रुकनेवाला प्रचण्ड वेग। देवरात महाकाल के दरबार में पहुँच कर भी शान्ति नहीं पा सके। वे स्थिति की खोज में हैं। महाकाल के धावमान वेग से न केवल खिंचे जा रहे हैं और फिर भी

उनके भीतर चलने वाले तूफान की गति में कोई कमी नहीं आ रही है। शान्ति चाहिए, पर महाकाल देवता प्रचण्ड नर्त्तन में व्याप्त हैं। उनके एक-एक पद-संचार से महाशून्य प्रकम्पित हो रहा है और उस प्रचण्ड गति के समुत्थित कम्पन से सृष्टि मृत्युधारा में स्नान कर नित्य नवीन जीवन की ओर अग्रसर हो रही है। जो कुछ पुराना है, जीर्ण है, सड़ा-गला है, वह ध्वस्त होता जा रहा है, नवीन के निर्माण में प्रत्येक पग पर मृत्यु का ताण्डव दिखाई दे रहा है। काल की यह प्रचण्ड धारा रुक नहीं सकती, मृत्यु और जीवन की यह परम्परा सापेक्षता दूर नहीं हो सकती।'

अर्थ के अनेक आयामों से सम्पृक्त महाकाल के इस रूपक में इतिहास-दर्शन के कई तत्त्व समाविष्ट हैं। यथा, अन्तश्चेतना का इतिहास की गति पर प्रभाव-निदर्शन, काल की अपनी एक विशिष्ट योजना में निमग्न रहते हुए निर्माण और ध्वंस के कार्य करते रहना--इस प्रक्रिया में अनावश्यक छँटता रहता है और नया उसका स्थान लेता रहता है। यह प्रथम आयाम है। दूसरा आयाम संसार को मानवीय दृष्टि से देखता है और पाता है कि इस विश्व में स्थिति और गति का द्वन्द्व चल रहा है, मनुष्य स्थिति चाहता है, शान्ति चाहता है और काल गति। इन दोनों के बीच कहीं कोई सन्तुलन नहीं है। मनुष्य अपनी आकांक्षा के विपरीत काल के सम्मुख स्वयं को विवश अनुभव कर रहा है।

स्थिति और गति अर्थात् मानवीय इच्छा और काल की इच्छा के द्वन्द्व का इतिहास दर्शन में बड़ा महत्त्व है। इसका प्रथम पक्ष भौतिकवादी है, जिसमें अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषणवाद और यथार्थवाद--आदि आते हैं और दूसरा पक्ष सनातनवादी-कालवादी इतिहासदर्शन को आविष्ट करता है। एक व्यक्ति (जो वह स्वयं है) को लेकर चलता है और इतिहास में 'समय' और 'अवधि' को स्वीकार करता है तो दूसरा इतिहास की मूल शक्ति अर्थात् उसके नाभि केन्द्र निरवधि काल को ग्रहण करता है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, आचार्य द्विवेदी जी प्रथम का निषेध नहीं करते, उसके प्रति उनकी आसक्ति है, परन्तु उनकी मूल आस्था काल के मूल अर्थ सनातनता के प्रति है।

प्रश्न यह है कि काल के सनातनतावादी इस अर्थ से गठित इतिहास को इतिहास माना जा सकता है? यह प्रश्न स्वयं प्रश्नकर्त्ता पर ही लागू होता है कि वे वस्तुतः इतिहास का क्या अर्थ लेते हैं--स्पेंगलर का मनुष्य के सम्पूर्ण अस्तित्व और चेतनावादी अर्थ या कार्लाइल का जीवनीमूलक विभावन या शेशर, एवेनेल, मेकाले का सार्वभौम, फ्रीमैन सीली का राजनीतिक, मार्क्स का भौतिकवादी, लैम्प्रेख्त का मनोवैज्ञानिक, कांट का आत्मवादी या डॉलिंगर का धार्मिक? ध्यान रहे ये सभी आधुनिक काल के इतिहासकार हैं और उससे भी बड़ी बात कि वे उस पश्चिम के हैं जिसे इस बात का विशेष गर्व है कि उसके पास इतिहास की वैज्ञानिक चेतना है। जब इतिहास के अर्थ के सम्बन्ध में एक साथ इतनी अवधारणायें हों तो काल-सम्बन्धी

सनातनतावादी धारणा पर आक्षेप व्यर्थ है। जिसे हम वैज्ञानिक इतिहास कहते हैं उसमें आस्था, कल्पना और सम्भावना की खोज को प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त होता है। वैज्ञानिक खोज को भी नियमों के सहारे चलना पड़ता है। नियम पद्धति और प्रक्रिया मूलक ही नहीं, तात्विकता मूलक भी होते हैं। वहाँ भी कोई स्थिर बिन्दु या अवस्थान बिन्दु होता है। एक बात और है। इतिहास में कई ऐसे प्रसंग आ जाते हैं, जिनका सही और वास्तविक कारण पता नहीं चल पाता। विज्ञान कारणता के सिद्धान्त को मानता है, परन्तु वहाँ भी और इतिहास में भी आकस्मिकता का सिद्धान्त स्वीकृत है। सम्राट् अशोक का कलिंग-युद्ध के भयानक नर-संहार से हृदय-परिवर्तन हुआ था, यह प्रचलित धारणा है, पर उसके समान क्रूर व्यक्ति का हृदय-परिवर्तन वस्तुतः उसी के कारण हुआ यह सही-सही कौन बता सकता है? कारणता की स्थूल व्याख्या हर समय इतिहास गति की सही व्याख्या कर ही दे यह आवश्यक नहीं।

काल की सनातनतावादी अवधारणा सम्भावनाओं की खोज पर विशेष बल देता है। दृश्य में से अदृश्य को, घटना में से घटना के तन्तुओं को ढूँढ़ निकालना सम्भावना के सत्य को स्वीकार किये बिना नहीं हो सकता। आचार्य द्विवेदी जी ने कहा है कि वे बालू में से तेल निकालने का कार्य करते हैं। उन्होंने यह भी कहा है कि चील की भाँति अनन्त गगन में उड़ते हुए वे उस छोटी-सी-छोटी घटना पर भी झपट्टा मारते हैं जहाँ उन्हें इतिहास की कोई झलक, कोई सम्भावना दिख जाय। उनकी शव-साधना एक प्रतीक है, गत और अतीत को सम्भावना के सत्य के आलोक-माध्यम से सगुण-साकार कर देने का।

एक बात और है। क्षण और क्रम, वस्तु और प्रत्यय, उन्हें मात्र पृथक् सोचा जा सकता है, पृथक् नहीं किया जा सकता। जैसे विषयी और विषय की परस्पर अन्तर्भुक्तता को पृथक् नहीं किया जा सकता। यह जो पृथक् भाव दिखाई पड़ता है, वह देश-काल-विशेष से उत्पन्न रूपात्मक अवस्था है, प्रत्ययमूलक अवस्था नहीं। मनुष्य में लहरें उठती हैं और फिर उसी में समा जाती हैं। लगता है कि समुद्र और लहरों में एक अनवरत-अविश्रान्त युद्ध मचा हुआ है। परन्तु हम क्या मानें समुद्र और लहर एक हैं या पृथक्? यदि लहर एक पृथक् सत्ता है तो समुद्र से अलग उसकी सत्ता असम्भव है। और यदि दोनों एक हैं तो लहर का पृथक् नाम क्यों है? वस्तु की सत्ता के बिना नाम नहीं हो सकता। नाम तभी सम्भव है जब नामी हो। अर्थ यह लेना चाहिए कि क्षण और क्षण-प्रवाह, बिन्दु और नाद की धारा में पृथक् भले दिखाई पड़ जायँ, पृथक् होते नहीं हैं। भारतीय चेतना में काल का यह अर्थ बहुत गहराई से समाया हुआ है। आचार्य द्विवेदी जी की कृतियों में यह चेतना अत्यन्त स्पष्टता के साथ अभिव्यक्त हुई है।

काल के साथ 'स्मृति' का सीधा सम्बन्ध है। काल-बोध के लिए स्मृति-बोध का होना आवश्यक है। अर्थात् जो बीत गया उसके बीते होने का ज्ञान, जो बीत रहा है उसके बीत रहे होने

का ज्ञान और आगे जो कुछ घटित करना है इसकी आकांक्षा। इतिहास में काल के ये तीनों आयाम समाये रहते हैं और स्मृति इनका आवाहन करती है, संचयन करती है, विश्लेषण करती है और उन्हें एकत्र कर अनुभव का विषय बनाती है। जिन इतिहासकारों ने देश, काल, नाम और तिथिक्रम को इतिहास के लिए आवश्यक बताया उनका आशय वस्तुतः स्मृति के इन्हीं गुणों और कार्यों को अभिव्यक्त करने से था। स्मृति सब का काल त्रय का संचयन करके, उन्हें एकत्व प्रदान करती है जिसपर ममत्व के आरोप से आत्मा का आविर्भाव होता है। स्मृति अपना कार्य प्रदान करती है जब स्मृति स्मृति-मात्र न रहकर स्मृति-बोध के स्तर पर उत्थित हो जाय। इतिहास को यदि स्मृति भी कहा गया है तो वह घटनाओं के पुनर्स्मरण के कारण नहीं, अपितु स्मृति-बोध के कारण। स्मृति स्वयं में अकेली और स्वतंत्र क्रिया नहीं है। स्मृति के बाद अनुभव और अनुभव-चिन्तन आता है। परिणामस्वरूप हमारा जीवन एक संगति, एक अभिप्राय, एक प्रक्रिया स्वरूप दिखाई पड़ता है। स्पष्ट है कि स्मृति इतिहास में मनोविज्ञान का प्रवेश-द्वार नहीं है, अपितु यह घटनाओं के प्रत्यक्षण से प्राप्त अनुभूति है। जब स्मृति बोध होता है तब तर्क नहीं चलता, कार्य-कारण-व्यापार नहीं चलता। आचार्य द्विवेदी जी ने बारम्बार इतिहास विधाता की बात की है। यह तर्कातीत कथन है और स्मृति-बोध का सामीप्य है।

विषय-समापन के पूर्व एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात पर विचार कर लेने की आवश्यकता है। संस्कृतिचेता उस महान् ज्ञानी व्यक्ति ने अपनी चेतना के परा केन्द्र के विस्तारण के लिए इतिहास को एक आयाम के रूप में क्यों चुना? हमारे मन में यह प्रश्न कई कारणों से उठ रहा है। हम दो अतिशय महत्त्वपूर्ण कारणों का उल्लेख करना चाहेंगे। पहले कारण के रूप में प्राच्य विद्या विशारद पाश्चात्य इतिहासकारों की अवधारणा को लेंगे। पाश्चात्य विचारक यह मानते हैं कि भारतीयों ने अपना इतिहास प्रस्तुत नहीं किया, उनमें ऐतिहासिक विवेचन था ही नहीं— History is the weak point in Indian literature. It is in fact non-existent the total lack of historical sense is so characteristic that the whole course of Sanskrit literature is darkened by the Shadow of this defect suffering as it does from an entire absense of chronology. (Macdonell : Sanskrit literature, Pp–10)

भारतीयों में इतिहास-विवेक था या नहीं और इसने अपना इतिहास लिखा या नहीं, यह स्वतंत्र विवेचन का विषय है। परन्तु, इतनी बात तो अवश्य है कि भारतीय संस्कृति में ऐतिहासिकता का बोध अन्य संस्कृतियों की तुलना में प्रमुख नहीं है। डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डे ने बताया है कि यहूदी, ईसाई अथवा आधुनिक पश्चिमी परम्पराओं में वास्तविक सार्वजनिक इतिहास उसके आत्मबोध में केन्द्रीय स्थान रखता है। उनमें आदर्श जीवन की कल्पना, ऐतिहासिक काल में कर्मजीवन की है जिसके साथ शहादत और संघर्ष और जातीय भविष्य की

चिन्ता जुड़ी हुई है। उनके लिए इतिहास अनिवर्तनीय क्रांतियों से गुजरता हुआ एक सुनहरे भविष्य की ओर बढ़ता है जिसमें आदर्श न्याय प्रतिष्ठित किया जा सकेगा। भारतीय जीवन में आदर्श जीवन एक प्रातिभासिक, प्रत्यात्मनियत आन्तरिक साधना है जिसकी गति पुनरावर्ती और चक्राकार होती है।

प्राच्य विद्या विशारद पाश्चात्य इतिहासकारों अथवा आधुनिक इतिहासकारों, जिनकी बुद्धि और चेतना पश्चिम ने निर्धारित कर दी, ने न तो आचार्य द्विवेदी को आतंकित किया और न ही विचलित। उन्हें इस बात का स्पष्ट बोध है कि इतिहास का अर्थ 'था' या 'होने' से अधिक 'है' के अर्थ में है। 'है' जीवित स्मृति-बोध का आशय प्रकट करता है। जो 'था' की परिधि में है, वह बोध की परिधि में नहीं आ सकता। भारतीय इतिहास-दृष्टि में 'है' का भाव है। इसीलिए यहाँ इतिहास पुरुष-जैसी धारणा नहीं है। राम हुए, कृष्ण हुए, गौतम और महावीर हुए, बड़े-बड़े वैज्ञानिक ऋषि, साधक,कवि, धर्म प्रणेता दार्शनिक हुए–पर उन्हें हम इतिहास पुरुष नहीं मानते। वे हमारी चेतना के जीवित और भास्वर अंश हैं, स्मृति-बोध में हैं। 'इतिहास पुरुष' की मान्यता पश्चिम की है और इधर सौ-पचास वर्षों से इस देश में भी इतिहास पुरुष की जो धारणा प्रचलित है, वह वहीं से आयातित है।

आचार्य द्विवेदी जी की चेतना इतिहास के 'है' की चेतना है। जब उन्होंने साहित्य के इतिहास में भारतीय चिन्ता धारा की अविच्छिन्नता की बात कही है तो उसके पीछे अवधारणात्मक दृष्टि 'है' वाली ही है। 'है' वाली इसी दृष्टि ने उन्हें पेड़-पौधे, पर्वत-नद-समुद्र, तालाब, जीर्ण-शीर्ण मन्दिर और खण्डहरों में इतिहास को सदेह अवतरति होते हुए देखा। एक-एक शब्द की व्याख्या में उन्होंने दर्शन और उपासना-साधना के कितने ही अनुद्घाटित-अनालोचित पक्ष को दृश्य बना दिया। वस्तु और इतिहास विवेक के मध्य जो अज्ञान का एक झिलमिल पर्दा है, उसे अनावृत्त कर दिया। अपनी औपन्यासिक कृतियों, ललित निबन्धों में और मूल्यानुसन्धान परक ग्रन्थों में उन्होंने बहुधा पुराण-कथा-प्रसंग, और पुराण के घटना-प्रसंग लिये हैं। उन्होंने उनके विवेचन और उनके विशिष्ट सन्दर्भगत प्रस्तुतिकरण से यह निष्कर्ष स्थापित कर दिया कि पुराण इतिहास का विस्मरण नहीं है, वह इतिहास का रूपान्तरण है। यह ऐसा रूपान्तरण है, जिसमें घटित घटना मुख्य नहीं रह जाती, घटमान मुख्य हो जाता है।

प्रस्तुत अध्ययन का सारांश दो स्तरों पर प्रस्तुत किया जा सकता है–प्रथम, यह स्मरण कराने के लिए कि आचार्य द्विवेदी जी के इतिहासदर्शन का 'परा' केन्द्र संस्कृति है और मूल्य-बोध, काल-बोध, इतिहास-बोध, स्मृति-बोध आदि उसके विस्तारक आयाम हैं। इस स्तर पर यह कहना आवश्यक ही है कि उनकी चेतना का परा केन्द्र संस्कृति नितान्त भावमयी, वायवीय अवधारणा नहीं है। उसमें स्थूल भौतिकता का एक छोर है तो दूसरे पर सनातनता की ओर बढ़ने

और उसे पाने का शक्तिधर भाव भी है। उनके लेखन में 'महाबराह', 'महाकाल' जैसे पौराणिक बिम्ब स्थान पाते हैं तो 'लहुरावीर' जैसे लोकनायक भी, 'लालित्य' स्थान पाता है तो 'मेरी जन्मभूमि', 'ठाकुर जी की बटोर' और 'नाखून क्यों बढ़ते हैं' जैसे जीवन के ठोस यथार्थ-प्रसंग भी, 'अदृश्य विधाता' की बात करते-करते 'दलित द्राक्षा की तरह स्वयं को दे देने' की बात भी करते हैं; अघोर भैरव और नाटी माता की रहस्यानुभूति की बात करते-करते यह भी कह देते हैं कि ज्ञान का रस तैयार नहीं मिलता उसे लोकानुभूति से प्राप्त किया जा सकता है। उनकी सांस्कृतिक दृष्टि पारिग्रही (inclusive) है, परिवर्जक (exclusive) नहीं। उनकी संस्कृति-संवेदना संस्कारित होने और संस्कारित करने की अभिनव प्रक्रिया को जन्म देकर साहित्यदर्शन और इतिहासदर्शन के अभिनव पाठ का निर्माण करती है।

दूसरे स्तर पर विचार करने के लिए हम विषय को हल्का-सा घुमाव देना आवश्यक समझते हैं। इस घुमाव पर यह प्रश्न है कि क्या इतिहास-संस्कृति के प्रति उनकी यह निष्ठा किसी अतिरिक्त व्यामोह का परिणाम है? उन्हें प्रायः रवीन्द्रनाथ से जोड़कर पुनरुत्थानवादी कहा भी गया है। पर, उनके जैसा मानवतावादी पुनरुत्थापनवादी नहीं बन सकता, यह निश्चित है। उन्होंने अपनी स्थिति वहाँ पूरी तरह से स्पष्ट कर दी है कि मृत बच्चे को बन्दरिया की तरह छाती से चिपकाये रहने में कोई भलाई नहीं है। तब क्या यह रुचि की बात है? यह सम्भव है। किन्तु, रुचि भी तो अनायास नहीं जागती। यह वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय आवश्यकताओं की परिणति होती है।

वस्तुतः वे एक आलोचक राष्ट्र के निर्माण के प्रति सजग क्रियाशील मनुष्य थे। आलोचक राष्ट्र का निर्माण शुष्क तर्क या भावुकतापूर्ण आस्था से नहीं, अपितु इनके कुशल संयोजन से होता है। अतीत का ज्ञान और वर्त्तमान के प्रति संवेदनशीलता यहाँ अपेक्षित होती है तथा उसके मूल में संस्कृति-रक्षण का भाव होता है। उनमें ये गुण थे। किन्तु ध्यातव्य है कि उनमें संस्कृति-रक्षण या इतिहास-पठन का जो आकुंठ भाव है, वह शुष्क अतीत से नहीं, भविष्य से जुड़ी हुई है। परन्तु, भविष्योन्मुखी यह जागरूकता अतीत का निषेध नहीं है, क्योंकि अतीत और वर्तमान के बिना भविष्य का कोई रूप निर्धारित नहीं किया जा सकता। उनकी कृतियों में यह कहीं तथ्यरूप में और कहीं सत्यरूप में दिखाई पड़ता है। इस अनुस्यूलता का ही परिणाम है कि उनकी कृतियों को पढ़ते समय बहुधा यह लगता है कि आधुनिक काल की अधिकांश समस्याओं का कारण पिछले साढ़े तीन हजार वर्षों में घटित घटना-चक्र है। आलोचक राष्ट्र का निर्माता वर्तमान को पढ़ने के लिए अतीत का अध्ययन जैसे अपरिहार्य रूप से करता है, वैसे ही आचार्य द्विवेदी जी ने किया है।

संस्कृति और इतिहास को देखने, उसका पुनर्मूल्यांकन करने और अपने परा केन्द्र को

पहचानने का कार्य आधुनिक काल में एक अत्यन्त प्रमुख विषय बनकर आया है। जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटकों और महाकाव्य में यह कार्य किया है। निराला और दिनकर तथा मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-साधना का बृहत् अंश इसी अभिप्रेरणा को निवेदित है। देखा जाय तो यह आधुनिक हिन्दी साहित्य की रीढ़ है। इस युग की साधना संवेदना और संस्कार की साधना है। यह एक गम्भीर साधना है और इसमें संकट और विचलन की सम्भावनाएँ अधिक हैं। इसकी सबसे बड़ी विडम्बना तो यही है कि संस्कार संवेदना के आड़े आ जाती है। इससे बचाव का एक ही मार्ग है–संवेदना और संस्कार के बीच लचीले सम्बन्ध की स्थापना करना। यही सूत्र भारतीय संस्कृति का प्राणाधार सूत्र है। आचार्य द्विवेदी की चेतना इसी से सम्पूरित और सम्पोषित है। उन्हें हम भारतीय सांस्कृतिक चेतना का साधक मानते हैं और इसी कारण उनके इतिहासदर्शन के 'परा' केन्द्र में संस्कृति की उपस्थिति पाते हैं। वस्तुत: वे भारतीय समष्टि चेतना के व्यष्टि प्रमाण हैं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी का काव्य-कर्म

बहादुर मिश्र

काव्य-कर्म अमूमन हर साहित्यकार का पहला प्यार होता है। इसके दुर्निवार आकर्षण से आज तक कोई नहीं बच सका, चाहे वे वैदिक मंत्रद्रष्टा ऋषि हों या डाकू रत्नाकर से बने महर्षि वाल्मीकि, यूनान की सीमा से सारे कवियों को निकाल बाहर कर 'आदर्श राज्य' की कल्पना करने वाले महान् चिन्तक और सिद्धांतकार प्लेटो हों अथवा साहित्य का सैन्यीकरण करने वाले तथा नव्य शास्त्रवाद के समर्थ पुरोधा फ्रांसीसी 'निकोलस बुअलो'[१] (१६३६-१७११ ई०), हिन्दी आलोचना के सुमेरु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[२] हों या डॉ० नगेन्द्र[३], डॉ० रामविलास शर्मा हों[४] या पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी। प्राय: सबने अपने साहित्यिक जीवन की शुरुआत कविता-लेखन से की है।

अपने पाँच दशकीय लंबे लेखकीय जीवन के दौरान पंडित द्विवेदी ने चार दर्जन से अधिक कविताओं की सर्जना की। इनमें बयालिस कविताएँ तो हजारीप्रसाद द्विवेदी-ग्रंथावली के ग्यारहवें खंड में संकलित हैं, बाकी उनके उपन्यासों और निबंधों में यथास्थान चतुराई से प्रयुक्त हुई हैं। २ अप्रैल, १९७५ को व्योमकेश शास्त्री के छद्मनाम से अपने विश्व-प्रथित नाम हजारी प्रसाद द्विवेदी को संबोधित करते हुए उन्होंने जो मनोरंजक पत्र लिखा था, उसमें इस बात का खुलासा हुआ है। देखा जाए-"वैसे तो जब आपने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिखी थी, उसी समय आपने यत्र-तत्र अपने श्लोक भी जोड़ दिए थे। कराला देवी की स्तुति ऐसा ही श्लोक है। एक निष्ठावान् संस्कृत विद्वान ने उसे किसी प्राचीन संस्कृत कवि का लोक मानकर एक बार उसकी ऐसी व्याख्या की कि मैं कुछ विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि आपने स्वप्न में भी उसका ऐसा अर्थ नहीं सोचा होगा। प्रतिवर्ष में तो आपने अपभ्रंश के दोहे और पद भी गढ़कर चला दिये हैं। आप और लोगों को चाहे भ्रम में डाल दें, परन्तु मुझसे आपका कुछ भी छिपा नहीं है।"[५]

ग्रंथावली के ग्यारहवें खंड में पंडित जी द्वारा रचित जिन अपभ्रंश-दोहों की ओर संकेत किया गया है, उनमें से कुछ ग्रंथावली के छठे खंड में दर्ज 'अपभ्रंश साहित्य और संत-साहित्य' में लक्षित किए जा सकते हैं। उनमें से कुछ तो मौलिक हैं और कुछ कालिदास एवं जोइन्दु के अपभ्रंश-दोहों के रूपान्तरण मात्र; जैसे-ये दोनों दोहे-

"देव न देवलि नहिं सिला नहिं चंदन नहिं चित्ति,
अखय निरंजन ज्ञानधन सिव संस्थित समचित्ति।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी[६]

(देवु न देवले नहु सिलाए, नहु चंदणि नहु चित्ति।
अखउ णिरंजणु णाण धणुं सिंउ संठिउ समचित्ति।।)

–जोइन्दु

"मैं जान्यो मृगलोचनिहिं निसिचरि को कोई हरेइ।
जौं लों न तव तड़ि श्यामल धाराधर बरसेइ।।

–हजारीप्रसाद द्विवेदी[७]

(मइँ जाणिउँ मिअलोयणी णिसिअर, कोइ हरेइ।
जाव ण णावतडि सामलो धाराहरू बरिसेइ।।)

–कालिदास/विक्रकमोर्वशीयम्

छठे खंड की पृष्ठ-संख्या २९७ से २९९ के बीच आठ अपभ्रंश दोहे उल्लिखित हैं। पंडित जी ने इतना भर लिखा कि "जिन दोहों की चर्चा हम आगे करने जा रहे हैं, वे ऐसे पंडितों के लिखे नहीं जान पड़ते। पंडित वे हों भी तो पंडिताई से बहुत ऊपर उठे हुए हैं। सहज भाव बड़ी कठोर साधना से प्राप्त होता है।"[८]

ये पंक्तियाँ जितनी अन्य पंडित-कवियों पर लागू होती हैं, उतनी ही पंडित हजारीप्रसाद पर। व्योमकेश शास्त्री ने द्विवेदीजी की जिस चालाकी की तरफ इशारा किया है, वह चालाकी इन आठों दोहों में मौजूद है; बल्कि कहना यह चाहिए कि ये दोहे उनकी काव्यसर्जनात्मक चालाकी के गवाह हैं। ये सारे दोहे मुख्यत: शृंगारिक हैं, कहीं-कहीं मांसलता लिये हुए। एक उदाहरण देखा जा सकता है–

"जइ केवइँ पावीसु पिउ अकिआ कुड्डु करीसु।
पाणिउ नवइ सरावि जिबं सब्बंगे पइसीसु।।"[९]

(किसी प्रकार यदि मैं प्रिय को पा जाती तो एक ऐसा खेल करती जो अब तक किसी ने नहीं किया। उसके प्रत्येक अंग में ऐसा पैठ जाती, जिस प्रकार पानी मिट्टी के नये कसोरे में प्रवेश कर जाता है–अंग-अंग में भीन जाता है।)

अस्तु, उपरिनिवेदित बयालिस कविताओं में छब्बीस खड़ी बोली हिन्दी में, तेरह ब्रजभाषा में और बाकी तीन संस्कृत में रचित हैं। इनमें से खड़ी बोली की तेईसवीं रचना 'अरे ओ सत्यार्थी भ(इ)या!' शुद्ध खड़ी बोली में न होकर भोजपुरी और खड़ी बोली की खिचड़ी भाषा में प्रणीत है। द्रष्टव्य है–

"पवलों तोरी चिठिया, बजवलों बधौआ कि सतार्थी भइया"।[१०]

१८ जनवरी, १९४० को रचित इस कविता में पंडित जी ने प्रतिकूल परिस्थितियों से घिरे होने के बावजूद अपने गंतव्य की ओर एकाकी अग्रसर सत्यार्थी भइया के संकल्प और जिजीविषा का सादर उल्लेख किया है। पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं–

"एक मैंने देखा सरग आकाश के बीच
सूर्य अकेले चला करता है आकाश के बीच
दूसरा मैंने देखा आकाश के बीच
एक चाँद अकेला चला करता है आकाश के बीच
तीसरी मैंने देखा दुनिया के बीच
तेरा रास्ता अकेला है, अरे ओ सत्यार्थी भैया![११]

शेष पचीस कविताओं में बीस शीर्षकविहीन हैं।

इतिवृत्तात्मक भाषा-शैली में रचित आत्मवृत्तात्मक प्रकृति वाली प्रथम कविताओं में पंडित द्विवेदी ने शान्तिनिकेतन-प्रवास के दौरान 'हरिहर' नामक डाकिया द्वारा लाई जाने वाली दैनंदिन डाक में पत्र-पत्रिकाओं, समीक्षार्थ पुस्तकों, रचना हेतु अनुरोध-पत्रों का उल्लेख किया है। देखिए–

"उँह, मारिये गोली, वही अनुरोध लेख का,
कुछ देख-रेख का तथा कुछ मीन-मेष का।"[१२]

इस बात का जिक्र उन्होंने 'समालोचक की डाक' नामक निबंध में भी किया है। उन्हीं के शव्दों में–"हरिहर शान्तिनिकेतन का डाकिया है, मस्त हँसमुख और शालीन। समालोचक (यहाँ इशारा अपनी तरफ है।) उसकी ओर भय से, आशा से, आशंका से और उत्सुकता से देखता है"।[१३]

इस प्रकार की आत्मवृत्तात्मक कविताएँ अन्य कवियों ने भी लिखी हैं।

मुक्त छन्द में रचित 'यदि मैं होता रसिक बिहारी कवि के युग में' शीर्षक दूसरी कविता रीतिकालीन भाषा के लालित्य-भार से दबी होने के बावजूद अपनी सहज प्रवाहमयता के कारण महत्त्वपूर्ण बन पड़ी है। एक बानगी देखिए–यदि मैं होता रसिक बिहारी कवि के युग में/ललित कलित अलिपुंज रहे जब,/मिलित मालती कुंज रहे जब,/ यमुना पुलिन सुवासित होता था बसंत के संग में।/षोडशियाँ शोभा से मंथर,/जगमग करतीं गृह-वन-प्रान्तर,/जहाँ-तहाँ मिल जातीं सत्वर,/चपल अपांगों से कहीं देती तनिक निहार,/काननचारी नयनमृग नागर नयन शिकार,/ किया करते जब उनके/लक्ष्य मैं बनता ठन के।"[१४]

'सफलता के प्रति' नामक कविता में पंडित जी ने मानवमात्र की सफलता को 'स्मित सरस

अधर मृदु लाली वाली', 'मेरी दुनिया की देवी', 'सनेह की प्याली', 'सुंदरि', 'सुहागिनि', 'प्रेयसी', 'प्यारी', 'तन्वि', 'सस्मित मुखकंजे' इत्यादि कहकर संबोधित किया है। कथन-भंगिमा छायावादी भंगिमा से अभिन्न प्रतीत होती है; यथा–

"ये प्रेम-पियाला छाकी अँखिया मेरी मतवाली
तुझको है खोज रही जीवन की जीवन वाली।
x x x
सुन्दरि! तेरे दर्शन से हम धन्य भाग होंयेंगे।
कृतकृत्य-सुहागिनि! होकर तेरा सुहाग ढोयेंगे।[१५]

ध्यातव्य है कि छायावादियों ने इस तरह की कई सम्बोधनमूलक कविताएँ रची हैं; जैसे– खँडहर के प्रति, प्रताप के प्रति, कवि के प्रति, गुरुडम के प्रति, प्रिया के प्रति, मित्र के प्रति, कविता के प्रति, सम्राट् अष्टम एडवर्ड के प्रति इत्यादि (निराला); चन्द्र के प्रति, युगमन के प्रति, कूर्मांचल के प्रति। बापू के प्रति, गुरुदेव के प्रति, कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति, अवनीन्द्र ठाकुर के प्रति, मर्यादा पुरुषोत्तम के प्रति, श्री अरविन्द के प्रति, आचार्य द्विवेदी के प्रति, स्वीट पी के प्रति, जवाहरलाल नेहरू के प्रति, क्रीटन के प्रति इत्यादि (सुमित्रानंदन पंत)।

पंडित जी की चौथी, पाँचवीं छठी, सातवीं और आठवीं खड़ी बोली कविताएँ भी छायावादी किंजल्क-जाल से मुक्त नहीं, बल्कि कहना यह पड़ेगा कि पंडित द्विवेदी गौण छायावादी कवि थे। इनमें से चौथी, पाँचवीं और छठी का रचना-वर्ष १९३० ई० दिखाया गया है, जबकि सातवीं तथा आठवीं का १९३१ ई०। यहाँ तक आते-आते छायावाद प्रौढ़ावस्था को प्राप्त कर चुका था।

पंडित जी की चौथी कविता का स्वर हताशा और अवसाद का है–

"विलखना ही है जीवन का सार,
हृदय समर्थ मंजुल वातायन से बहती न बयार।"[१६]

यही स्वर प्रसाद, निराला, महादेवी और द्विज का रहा है।

पंडित जी की ग्यारहवीं से चौदहवीं-कुल चार कविताएँ पद शैली में रचित हैं। इनमें से ग्यारहवीं कविता में कवि ने 'घोड़ा बेचकर सोने वाले' लोगों पर अफसोस व्यक्त किया है–

"किसे सुनाऊँ निज संदेश!
सोने वालों सोते रहना भी न बुरा है लेश।
धूमकेतु अम्बर में उपजा और हुआ निःशेष।

डरे जागनेवाले, सोतों को क्या अन्देश,
आग लगी थी जब पड़ोस में चिन्तित वे विशेष।
और हमारे सोनेवालों को न भीषिका-लेश!"[१७]

कवि यहाँ वैतालिक की भूमिका में उतरता दिखता है। इनके समकालीन प्रसाद, निराला, महादेवी प्रभृति भी यह काम कर चुके हैं क्रमश: 'बीती विभावरी जाग री', 'आँखों से अलख जगाने को/यह आज भैरवी आई है', अब जागो जीवन के प्रभात (प्रसाद/लहर); 'जागो फिर एक बार' (निराला/परिमल), 'जाग बेसुध जाग!' तथा 'जाग-जाग सुकेशिनी री!' (महादेवी)।

१९३१ में रचित शीर्षकविहीन बारहवीं कविता की प्रकृति मूलत: प्रगीतात्मक है, जिसमें कवि ने सूर की गोपियों की तरह ही रूप-शब्द-स्पर्शमयी प्रियतमा के समक्ष निर्गुण-निराकार की अनदेखी, की है–

"किन्तु प्रियतमे! कैसे भूलूँ?
किसी अगोचर में गोचर को संविलीन कर कैसे तूलूँ?
हा किसलय कोमल कर को मैं स्वयं प्रकाशित कैसे जानूँ?
पद-पल्लव नूपुर-रून-झुन को ना अनाहत कैसे मानूँ?"[१८]

तेरहवीं कविता के पूर्वार्ध में कवि 'हृदयेश्वर' को उत्पाती, छलिया, गात को दिन-रात झुलसाने वाला, बननेवाला इत्यादि कहकर कोसता है। कुछ देर बाद उसे अपनी भूल का अहसास होता है कि वह तो लता, पुष्प, फल-सबमें व्याप्त है, अर्थात् वह भीतर-बाहर सर्वत्र विद्यमान है–

"हे अनन्त! अंतर में तुम हो–है यह कैसी भूल
लता पुष्प फल में हो मरे प्रिय कि रहे तुम झूल।"[१९]

'आत्मा की ओर' शीर्षक अठारहवीं कविता कई दृष्टियों से न केवल पंडित जी की सर्वश्रेष्ठ रचना है, अपितु हिन्दी की श्रेष्ठ लंबी कविताओं में आदरणीय स्थान की अधिकारिणी भी। लगभग डेढ़ सौ पंक्तियों में रचित यह कविता भारत के एक ऐसे अनछुए ऐतिहासिक वृत्त को आधार बनाती है, जिसे भारतीय इतिहास 'प्लासी का युद्ध' कहकर पुकारता है। कहते हैं वह लड़ाई सिराजुद्दौला के प्रधान सेनापति मीरजाफर की राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा, घोर अवसरवादिता, विश्वासघात और कुचक्र के कारण 'सिराज' के पतन के साथ ही भारत के पतन की भी कहानी लिख गई थी।

२४ वर्षीय युवा ज्योतिषाचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की साहित्यिक नजर से यह घटना बच न सकी। उनके इसी गहरे इतिहास-बोध और गहरे मानवीय सरोकार की उपज है आलोच्य

कविता। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

"सुंदरियों के क्रीड़ागृह पर बैठा मत्त फिरंगी (था)
नागर रसिकों के महलों पर कर्कश शासन जंगी (था),
सिराज का ताज मीरजाफर के सिर पर आया
जिसमें कुछ अपमान रहा कुछ लोभ रहा विक्षोभ रहा।
जिसकी अति अपमान-क्षोभ-विक्षोभ-कलुष थी काया।
क्रूर काल के अट्टहास से काँपा पुनः दिगंत
सिहर उठा मेरा मर्मस्थल हन्त विधे हा हन्त!
कि अबलाओं का वह चीत्कार
हृदय में अब भी है साकार!![२०]

महाकाव्यात्मक औदात्य का संस्पर्श, ओज और करुणा की द्वाभा, भाषा का सहज प्रवाह– ये सारी चीजें आलोच्य कविता को और कवि को भीड़ से अलग करती हैं।

संस्कृतनिष्ठ, पर जयदेव की लालित्यमयी पदावली में प्रणीत शीर्षकविहीन उन्नीसवीं कविता का स्वर स्वागत का है, जो कवि ने 'माया' के प्रति निवेदित कर रखा है–

"क्षुब्ध विलोल लहर आलोड़ित यह गभीरतम सिन्धु
वज्रनादमय कोलाहलमय भयमय जयमय अन्ध
यह लावण्य समुद्र, फेनमय भी है तेरी कायच्छाया
स्वागत स्वागत मेरी माया!"[२१]

बाईसवीं कविता चार दुर्मिल सवैया छन्दों में रचित है। लगता है, ये छन्द कवि ने स्वयं को लक्ष्य कर लिखे हैं। प्रथम छन्द देखा जाए–

"रजनी दिन नित्य चला ही किया मैं अनन्त की गोद में खेला हुआ;
चिरकाल न बास कहीं भी किया किसी आँधी से नित्य धकेला हुआ;
न थका न रुका न हटा न झुका, किसी फक्कड़ बाबा का चेला हुआ"।[२२]

यह 'फक्कड़ बाबा' कोई और नहीं, पंडित जी स्वयं हैं। लोकधुन में रचित तेईसवीं कविता का उल्लेख प्रारंभ में किया जा चुका है।

यह कविता सही अर्थ में पंडित जी के लोक-व्यक्तित्व से मेल खाती है। अफसोस की बात है कि यह अपने ढंग की अकेली कविता है, जिसे कुछ पत्र-पत्रिकाओं ने जब-तब छापा है।

पंडित जी द्वारा १९६६ में रचित खड़ी बोली हिन्दी की छब्बीसवीं और अंतिम कविता मुक्त छन्द का नमूना पेश करती है, साथ ही, कवि के अनकहे व्यक्तित्व से परिचय भी कराती है; यथा–"मार्ग सुन्दर बहुत है।/ गाड़ियाँ घोड़े, पदातिक सभी के उपयुक्त।/ सुना है उसको पकड़कर चल सके कोई,/ पहुँचता लक्ष्य तक निर्भ्रान्त।/ जानता हूँ, मानता हूँ/ लक्ष्य तक निर्भ्रान्त जाना चाहता हूँ।/ सड़क पक्की और छायादार यह है।/ किन्तु मैं मजबूर हूँ।/ कंकड़ों में, कंटकों में/ दूर जंगल में–/ भटकना है बदा–।/ नहीं तो जी नहीं सकता।/ दूर वाले समझते हैं आदमी यह प्राणार्वत महान्। कंकड़ों पर चल रहा है,/ कण्टकों को दल रहा है,/ किन्तु मैं हूँ जानता इस रास्ते की मार।"[२३]

कवि ने यहाँ कई तरह के परंपरित प्रतीक व्यवहृत किए हैं; जैसे आरामदेह जिन्दगी के लिए 'पक्की और छायादार सड़क', 'कठिनाइयों' के लिए 'कंकड़ और कंटक' आदि।

आचार्य के अर्थगर्भत्व से दीप्त पंडित जी का व्यक्तित्व जितना विराटता में सहज था, उनका कर्त्तृत्व भी तदनुरूप बन पड़ा है। एक साथ आधा दर्जन भाषाओं में विन्यस्त गुरुपाक विषयों को सुपाच्य बनाकर पाठकों के समक्ष परोसने की कला में उनका कोई सानी नहीं था। उनकी ये आलोचित कविताएँ इस बात के प्रमाण हैं। उनका पांडित्य कहीं भी रसनीयता में बाधक नहीं बना है, बल्कि साधक की भूमिका में पग-पग पर हाथ जोड़े खड़ा मिलता है। संवेदना और अभिव्यंजना, भाषा और रूप, परंपरा और प्रयोग, लघुता और विराटता इत्यादि की दृष्टि से उनकी ये कविताएँ गंभीर अध्ययन की माँग करती हैं। साथ ही आलोचकों, काव्य-मर्मज्ञों और सहृदयों की अब तक की उदासीनता पर भ्रूभंग भी करती हैं। १९३० से १९६६ के बीच रचित उनकी ये कविताएँ उनकी काव्यात्मक सिसृक्षा पर मुहर लगाती हैं। इनका रचना-काल छायावादी दौर रहा है, कुछ प्रगतिवादी और नई कविता के दौर में रचित हुईं। इनकी सर्जनात्मकता के प्रमुख आयामों के सामने उनका यह आयाम लगभग अप्रकाशित रहा।

जो हो, उनकी ये कविताएँ पंडित जी को मननीय और पठनीय कवि के रूप में सामने लाती हैं।

संदर्भ

१. इनकी प्रसिद्ध काव्य-कृतियाँ हैं–(i) 'पेरिस नगर से एक कवि की विदाई' (१६६० ई०), (ii) 'रोमीय नायकों के संवाद' (१६६४)

२. "शुक्ल जी एक अच्छे कवि भी थे और अपने साहित्यिक जीवन का प्रारंभ उन्होंने कविताएँ लिखकर ही किया। 'भारत और वसन्त' (१८९६ ई०), 'मनोहर छटा' (१९००/१९०१ ई०) उनकी प्रारंभिक कविताएँ हैं। उनकी कविताओं का एक संकलन 'मधु स्रोत', (१९७१), के नाम से प्रकाशित हुआ है। उन्होंने आर्नल्ड की 'लाइट आफ एशिया' का अनुवाद भी किया है, जो 'बुद्धचरित' प्रबंध काव्य के रूप में प्रकाशित हुआ (१९२४)। शुक्ल जी की हार्दिक कामना था कि अवकाश ग्रहण करने पर वह पुनः काव्य-रचना में प्रवृत्त हों, किन्तु क्रूर काल ने ऐसा नहीं होने दिया।"

–शरदेन्दु/'आचार्य शुक्ल संपादक के रूप में' (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल नामक पुस्तक; प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, १९६८ में संकलित); पृ०-१०७

३. (क) "उनका (नगेन्द्र जी का) साहित्यिक जीवन कवि के रूप में आरंभ होता है। सन् १९३७ ई० में उनका पहला काव्य-संग्रह 'वनमाला' प्रकाशित हुआ। इसमें विद्यार्थी-काल की गीति-कविताएँ संगृहीत हैं।" –बच्चन सिंह/हिन्दी साहित्य कोश : भाग-२; ज्ञानमंडल, वाराणसी; २०२० संवत्; पृ०-२६४

(ख) डॉ० नगेन्द्र का दूसरा काव्य-संग्रह 'छन्दमयी' नाम से १९४९ ई० में प्रकाशित हुआ, जिसमें उनकी १९३३ से १९४८ के बीच रचित कविताएँ संग्रहीत हैं। –डॉ० बहादुर मिश्र

४. 'तारसप्तक' के कवि-रूप में चर्चित।

५. ह० प्र० द्वि-ग्रंथावली : ११; राजकमल प्रकाशन, प्रा० लि०, नई दिल्ली/पटना; प्र० सं०-१९८१; पृ०-४२५

६. ह० प्र० ग्रंथावली-६; पृ०-२९२

७. उपरिवत्; पृ०-२९४

८. उपरिवत्; पृ०-२९७

९. उपरिवत्

१०. ह० प्र० ग्रं०-११; पृ०-४४

११. उपरिवत्

१२. उपरिवत्; पृ०-१९

१३. ह० प्र० ग्रं०-१०; पृ०-१२८

१४. उपरिवत्-११; पृ०-२१

१५. उपरिवत्; पृ०-२३

१६. उपरिवत्; पृ०-२४

१७. उपरिवत्/२८

१८. उपरिवत्/२९

१९. उपरिवत्

२०. उपरिवत्/३४, ३७

२१. उपरिवत्/३८

२२. उपरिवत्/४३

२३. उपरिवत्/४९

हजारीप्रसाद द्विवेदी की रचना-भूमि

विजय बहादुर सिंह

वाराणसी संसार की प्राचीनतम नगरी में से एक है। यदि हम भारतीय पौराणिक संदर्भों को लें तो प्राचीनता की दृष्टि से संसार का शायद ही कोई नगर मिले जिसका नाम वाराणसी के साथ लिया जा सके। वाराणसी के नाम में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है। कभी यह नगर काशी कभी वाराणसी फिर बनारस और संप्रति वाराणसी के नाम से जाना जाता है। यह नगर कभी जनपद के रूप में कभी तीर्थ स्थान के रूप में और कहीं नगरीकरण के रूप में संज्ञा ग्रहण करता रहा है। वास्तव में वाराणसी एक नगर ही नहीं बल्कि परंपराओं से भारतीय मनीषीयों के लिए भाव-भूमि रही है। यह भाव-भूमि सभी आग्रहों और दुराग्रहों से मुक्त मानव के लिए निर्बन्ध सुखद एवं सुलभ रही है। यह नगर न जाने कितनी बार उजड़ा और न जाने कितनी बार बसा। इसकी भौगोलिक सीमा न जाने कितनी बार बनी और न जाने कितनी बार बिगड़ी पर इसकी एक पहचान थी जो किसी न किसी रूप में बराबर बनी रही। सांस्कृतिक चेतना, चिन्तन और पांडित्य की दृष्टि से इसका मस्तक सदैव ऊँचा रहा। यह कभी पराजित नहीं हुई और बिना इसकी सनद् के कोई भी ज्ञान युद्ध में दिग्विजयी घोषित नहीं हो पाया। यह नगर कभी भी किसी समाज शासक और संत के लिए प्रतिबंधित नहीं रहा। मुक्त हृदय से इसने सब का सदैव स्वागत किया है। निश्चित रूप से भाव-भूमि के रूप में इसने अपने दायित्व का निर्वाह किया है। जिसमें कोई भी स्वाभिमानपूर्वक सुरक्षित विचरण कर सकता था। परिणामस्वरूप यहाँ के मूल निवासियों की परंपरा को रेखांकित भी नहीं किया जा सकता। सब इसके लिए और यह सबके लिए रही। यह दूसरी बात है जो भी यहाँ आया वह यहीं का होकर रह गया। इतिहास में काशी को गौरवान्वित और रेखांकित करने वाले अधिकांश महापुरुष वे रहे जिन्होंने आकर यहाँ साधना की। वे यहाँ के निवासी नहीं रहे बल्कि वे देश के विभिन्न अंचलों से आकार काशी के नागरिक बने। इन महापुरुषों में वे लोग थे जिनके नाम से काशी जानी जाती रही उन्हीं नामों में एक नाम आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का भी है। आचार्य द्विवेदी अपने सांस्कृतिक व्यक्तित्व के कारण कई अर्थों में अनेक महापुरुषों से भिन्न दिखाई पड़ते हैं।

अधिकांश महापुरुष काशी में स्थापित होने के बाद अपनी परंपरित भंगिमा और संस्कृति को छोड़कर काशी के पर्याय बने और उनके व्यक्तित्व की विकास यात्रा को रेखांकित कर पाना कठिन है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के साथ ऐसी कोई कठिनाई नहीं है। उनका व्यक्तित्व पिछली उनकी निजी, सामाजिक, पारिवारिक और ग्रामीण परंपराओं को समेटते हुए हुआ। उनके व्यक्तित्व के विकास में जिन रेखाओं का योग रहा वे कभी फीकी नहीं पडीं। उनकी चमक

उत्तरोत्तर बनी रहीं। यही कारण है कि आचार्य द्विवेदी का जो व्यक्तित्व वाराणसी में आकर निर्मित हुआ वह इतना विराट था कि उसने व्यक्तित्व के सारे संकुचन को तोड़कर उसे इतनी ऊँचाई प्रदान की। उसने आचार्य द्विवेदी को न केवल राष्ट्रीय बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर प्रतिष्ठित किया। युग की सभी राष्ट्रीय इकाईयों की धुरी के साथ उनका व्यक्तित्व इतना लोकप्रिय बना कि उसने काशी के गौरव को एक विलक्षण स्थान दिया। वाराणसी के इस गौरव पुरुष के व्यवितत्व और कृतित्व को समझने के लिए आवश्यक है कि उसके व्यक्तित्व विकास की रेखाओं का संक्षिप्त परिचय भी जाना जाए। आज हम उनके शताब्दी वर्ष में उनके गौरव को वाराणसी से जोड़कर देखने के लिए प्रस्तुत हैं और उनके कृतित्व की बेबाक मीमांसा करने के लिए सन्नद्ध हैं। ऐसी स्थिति में हमें सफलता तभी मिलेगी जब हम उनके जीवन वृत्त को सामने रखें। आचार्य द्विवेदी के जीवन वृत्त के आलोक के माध्यम से हम उन्हें सही अर्थों में चित्रित कर सकते हैं। जिसके द्वारा स्पष्ट हो जाएगा कि वे वाराणसी के गौरव थे। उन्होंने सभी दृष्टियों से वाराणसी को गौरवान्वित किया है।

हिन्दी साहित्य में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी एक मात्र ऐसे रचनाकार हैं, जिन्हें आधुनिक भारत के निर्माता महात्मा गांधी, पंडित मदनमोहन मालवीय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद एवं पं० जवाहर लाल नेहरू का सान्निध्य मिला। भारत की राजधानी काशी से वे सर्वप्रथम अध्ययन के निमित्त जुड़े, जहाँ उन्हें महामना पं० मदनमोहन मालवीय के संपर्क में आने का अवसर मिला। उदार परंपरावादी भारतीय संस्कृति का जो पाठ उन्होंने काशी में रहकर पढ़ा उसकी पूर्णाहुति उस समय में हुई जब वे अपने शांतिनिकेतन निवास काल में विश्वकवि रविन्द्रनाथ ठाकुर के संपर्क में आए। आचार्य द्विवेदी मूलत: ज्योतिष के आचार्य थे। वंश परंपरा जन्म जाति गुण और सामाजिक फलक जितना विस्तृत होगा उसका व्यक्तित्व उसी अनुपात में उतना महान् होगा। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को उनके जीवन काल में ही जितनी सामाजिक प्रतिष्ठा, लोकप्रियता एवं राष्ट्रीय स्तर की ख्याति मिली किंचित ही हिन्दी साहित्य के इतिहास में किसी साहित्य को मिली होगी। आधुनिक हिन्दी जगत् में शायद ही कोई एक नाम ऐसा हो जिसकी समूचे भारतवर्ष में इतनी लंबी शिष्य परंपरा हो जितनी लंबी शिष्य परंपरा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की है। भाषावाद, प्रांतवाद एवं जातिवाद जैसे संकीर्ण अवरोधों की उपेक्षा कर समूचे भारतवर्ष की मनीषा को समेट लेने में द्विवेदी जी के सामाजिक व्यक्तित्व को सामने रख कर ही उनके साहित्य का सही मूल्यांकन किया जा सकता है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व के चार आयाम–

१. अध्यापन कक्ष से लेकर परिवार तक

२. शिष्यों के बीच

३. संगोष्ठियों से लेकर महती सभाओं के मध्य कुशल वक्ता के रूप में

४. उच्च प्रशासकीय दायित्वों के निर्वाह एवं हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं के लेखक के रूप में

उपर्युक्त बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए उनके व्यक्तित्व में तारतम्य खोजना कठिन है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी स्वभाव से संकोची पर संकल्प से दृढ़ व्यक्तित्व वाले थे। वे जीवन पर्यन्त साधारण लोगों के लिए रहस्य बने रहे। दिल्ली का एक सुल्तान नसिरुद्दीन पवित्र कुरान की प्रतिलिपि तैयार कर बेचता और मिले मूल्यों से ही अपना व्यक्तिगत खर्च चलाता था। राजकोष को प्रजा की धरोहर समझ कर निजी उपयोग में उसे लाना उसकी दृष्टि में अपराध था। एक दिन जब सुल्तान कुरान की प्रतिलिपि तैयार कर रहा था तो उसके मुँह लगे किसी पार्षद ने टोक दिया कि उसने कुरान की एक आयत गलत लिख दी है। अतः पार्षद के सुझाव के अनुसार सुल्तान ने आयत का संशोधन कर दिया। पार्षद के चले जाने पर उसने संशोधन को काटकर 'आयत' को पूर्ववत् ठीक कर लिया। पास बैठे अन्य पार्षद ने जिज्ञासा की कि सुल्तान ने जानते हुए भी गलत सुझाव को क्यों स्वीकार कर लिया था! उत्तर में सुल्तान ने कहा कि सही क्या है इसे तो मैं जानता ही हूँ पर थोड़ी देर के लिए भूल स्वीकार कर लेने पर यदि किसी का मन रह जाता है तो हर्ज ही क्या है? आचार्य द्विवेदी जी इसी प्रकार के संकोची महापुरुष थे जो दूसरों के अहं को न तोड़ कर स्वयं कुछ काल के लिए टूट जाते थे पर उनकी संकल्प शक्ति सदैव अप्रभावित रही है। इस तथ्य से जो लोग अपरिचित है उन्हें द्विवेदी जी के व्यक्तित्व एवं साहित्य में अन्तर्विरोध दिखता है। अतः आचार्य द्विवेदी जी कहा करते थे–"उनकी आर्थिक विपन्नता ने उन्हें लेखक बनाया।" अतः आचार्य द्विवेदी जी के जीवन का भोगा हुआ सत्य उनके साहित्य में वर्तमान हैं। आचार्य द्विवेदी जी के शब्दकोश में याचना शब्द नहीं था। द्विवेदी जी ने जीविका के लिए कभी भी कहीं प्रार्थना पत्र नहीं दिया और न तो उसके लिए कभी साक्षात्कार समिति के सम्मुख उपस्थित ही हुए। शांतिनिकेतन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और चंडीगढ़ से लेकर राजभाषा हिन्दी संस्थान (उ०प्र०) तक सभी स्थानों पर सेवा कार्य के लिए उन्हें सम्मान सहित आमंत्रित किया गया था न कि उन्होंने सेवा कार्य के लिए याचना की थी। मृत्यु पर्यन्त वे कार्य करते रहे और स्वास्थ्य की प्रतिकूलता के कारण वे राजभाषा संस्थान (उ०प्र०) की सेवाओं से मुक्ति चाहते हुए भी मुक्त नहीं हो सके। इसी प्रकार वे अंतिम क्षणों तक राजभाषा हिन्दी संस्थान में उपाध्यक्ष के रूप में अवकाश पर थे।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ८ नवम्बर १९३० को शांतिनिकेतन में हिन्दी अध्यापक के रूप में सर्वप्रथम कार्य आरंभ किया। आचार्य द्विवेदी १९५० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष के रूप में आये। पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगड के हिन्दी विभाग में

१९६० से १९६७ तक टैगोर प्रोफेसर के रूप में कार्य करते रहे। १९६७ में पुनः काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष के रूप में वापस आये। रेक्टर पद पर ४.३.६८ को नियुक्त हुए और २५.२.७० को रेक्टर पद से मुक्त हुए। रेक्टर पद से द्विवेदी जी मुक्त हुए तो भावी योजनाओं के संबंध में पूछने पर अपने एक मित्र को सद्यः रचित कविता में बतलाया–

पढ़ा, पढ़ाया, लिखा, लिखाया, अब क्या करना बाकी।
व्योमकेश दरवेश चलो अब गंगातट एकाकी।।

व्योमकेश द्विवेदी जी का ही नाम है और आरंभ में वे इस छद्म नाम से भी लिखते थे। बाणभट्ट की आत्मकथा के लेखक व्योमकेश द्विवेदी जी हैं। अपने इस नाम का सर्वाधिक प्रयोग उन्होंने विश्वभारती शान्तिनिकेतन में रहकर किया और संभवतः जब तक वे काशी में रहे उन्होंने व्योमकेश से मुँह मोड़ लिया था। काशी के समाज से जब उन्हें अरुचि हुई तो जीवन की संध्या में उन्हें व्योमकेश पुनः याद आया। नारी शरीर को देवमंदिर समझने वाला व्योमकेश शक्ति का उपासक था चाहे वह दुर्गा के रूप में हो अथवा राधा के रूप में। द्विवेदी जी राधा तत्व के प्रति आस्थावान थे जो उन्हें गंगा तट पर नहीं बल्कि यमुना तट पर मिल सकती थी।

काशी सदैव से विद्वानों एवं साधकों की साधनास्थली रही है फिर द्विवेदी जी के लिए वह प्रतिकूल क्यों? आदर्श और भावुकता को छोड़कर यथार्थ को स्वीकार कर लेना चाहिए। काशी वासियों ने तुलसीदास के साथ जो कुछ किया वे भला द्विवेदी जी के साथ क्यों न करते? काशी में दूकान पर पान लगाने वाला अपढ़ भी गुरु है तो तथाकथित गुरुओं की बात ही निराली है। फिर भी आप यह कहते हैं कि द्विवेदी जी की काशी अंतिम दिनों में छूट गयी। उन्हें तो कबीर की भाँति काशी छोड़नी ही थी, भारतीय मनीषा की स्मृति में संचित राधा का वैभव दिल्ली के तट से द्विवेदी जी को बुला रहा था और गंगा तट छोड़ कर यमुना तट पर चले गए। दिल्ली ने सम्राटों और राजनेताओं का ही वैभव देखा था, उसने यह कभी नहीं देखा था कि एक कलम का सिपाही भी अपनी कीर्ति से लोगों को पीछे छोड़ सकता है। दिल्ली मुकुट वालों की रही है पर दिल्ली में अपनी मृत्यु से द्विवेदी जी ने अपने साहित्यिक जीवन के द्वारा ही नहीं बल्कि मृत्यु के माध्यम से भी हिन्दी को राष्ट्रीय गरिमा प्रदान की है। मृत्यु के बाद भी लोग द्विवेदी जी के यश को नहीं झेल पाते, उन्हें कम से कम हिन्दी के नाम पर मुँह नहीं खोलना चाहिए उन्हें इस बात से सन्तोष कर लेना चाहिए कि द्विवेदी जी को मृत्यु के बाद भारत की राजधानी दिल्ली में जो अपूर्व सम्मान मिला वह हिन्दी का ही सम्मान है।

एक आलोक शिखर के रूप में आचार्य द्विवेदी जी ने संकट की घड़ी में हिन्दी भाषा और साहित्य का नेतृत्व किया है जिसे हिन्दी जगत् भूल नहीं सकता। १८ मई १९७९ ई० को भारत की राजधानी में आचार्य द्विवेदी ने अपने को महाकाल के हवाले कर दिया।

आचार्य द्विवेदी विलक्षण प्रतिभा के धनी साहित्यकार थे। उनके अध्ययन, चिन्तन और मनन का फलक अत्यन्त व्यापक रहा है। संस्कृत साहित्य के वे प्रकाण्ड अध्येता तो थे ही, वे समूचे भारतीय वाङ्मय में अच्छी पैठ रखते थे। सामाजिक जीवन में विविध पक्षों से भी उनका सरोकार रहा है, जिनके आलोक में उन्होंने अत्यन्त उदार मानवतावादी दृष्टि को आयत्त किया था। इस प्रकार उन्होंने जिस विकसनशील सांस्कृतिक चेतना का साक्षात्कार किया था, उससे उनके चिन्तन में सुधारवादी, मानवतावादी चेतना को प्रश्रय मिला और वे जड़ीभूत परम्पराओं की निस्सारता को विश्लेषित करने में सक्षम रहे।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने रचना-क्रम को दो किस्तों में बाँट दिया है, उन्होंने लेखन की शुरुआत नीचे से की। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारुचन्द्रलेख' पहली किस्त में और "पुनर्नवा तथा 'अनामदास का पोथा" दूसरी किस्त में सामने आया। पहली किस्त में हर्षवर्धन-कालीन भारत और मध्यकालीन संस्कृति के चित्रण में 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और चारुचन्द्र लेख के रूप में इतिहास का क्रम बना रहा पर दूसरी किस्त में 'अनामदास का पोथा' के साथ 'पुनर्नवा' की रचना पहले हुई और ऐतिहासिक क्रम का निर्वाह संभव नहीं हो पाया। लगता है, दीर्घ काल तक अतीतकालीन भारतीय संस्कृति को लेकर आचार्य द्विवेदी का अध्ययन-मनन एवं विचार-मंथन चलता रहा और वे अपनी औपन्यासिक कृतियों के द्वारा उस संस्कृति को उसकी सम्पूर्णता में प्रस्तुत करना चाहते थे। नीचे की सीढ़ियों से चलकर ही शिखर तक पहुँचना संभव होता है। वस्तुत: इतिहास ही किसी देश अथवा जाति की स्थायी सम्पत्ति होता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में आये पात्रों में बाणभट्ट, सम्राट हर्षवर्धन तथा राजश्री जैसे कुछ पात्रों को छोड़कर शेष पात्र उपन्यासकार की कल्पना की उपज हैं।

नारी-शरीर को देव-मन्दिर समझने वाले आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पतिताओं में भी सद्गुणों का समावेश भली-भाँति करते हैं जिसे उनके सभी उपन्यासों में सहज ही देखा जा सकता है। स्त्रियाँ पतित नहीं होती, पतित होता है पुरुष, जिसका अभिशाप स्त्रियों को ढोना पड़ता है। 'पुनर्नवा' में इस संदर्भ में आचार्य जी ने केवल संकेत दिया है। आचार्य द्विवेदी ने सारे जड़ीभूत सामाजिक एवं जातीय बन्धनों को तोड़ डाला है, सामाजिक मान्यता को निरस्त कर दिया है कि एक पति अथवा प्रेमी के साथ दो पत्नियाँ अथवा प्रेमिकाएँ सौहार्दपूर्वक नहीं रह सकती। वे रहती हैं और अपने ऐसे औदात्य का परिचय भी देती हैं कि जिससे एक आदर्श समर्पण का कीर्तिमान बनता है। दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़ कर दे देना द्विवेदी जी की दृष्टि में भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड रहा है और इस उपन्यास के सभी नारी पात्र अपने को निचोड़ कर दे देने में कोई कोर-कसर नहीं रखते। इस प्रकार पुनर्नवा की समूची चेतना उस भारतीय संस्कृति

की वाहिका है जो सामाजिक जीवन को व्यवस्थित एवं सुन्दर ढंग से जीवन-यापन करने का मार्ग प्रशस्त करती है।

'अनामदास का पोथा' ऐतिहासिक उपन्यास न होकर एक प्रागैतिहासिक उपन्यास है। आचार्य द्विवेदी भी इसे उपन्यास नहीं मानते थे और इस पोथी को पोथा इसलिए कहा कि अभी इसे वे कई खण्डों में प्रस्तुत करना चाहते थे। हम इसे उपन्यास की संज्ञा देंगे क्योंकि द्विवेदी जी ने अपने सभी उपन्यासों के द्वारा हिन्दी उपन्यास-जगत में अपनी एक अलग पहचान बनायी है। इस उपन्यास के कुछ पात्र तो उपनिषदों से उठा लिए गए हैं और कुछ उपन्यासकार की कल्पना की उपज हैं। यह नितांत सांस्कृतिक उपन्यास है जिसके माध्यम से प्राचीन इतिहास की सांस्कृतिक व्याख्या कर उसे प्राप्त इतिहास की मूलधारा से जोड़ने का प्रयास किया है। आचार्य द्विवेदी संस्कृति को सरिता का प्रवाह मानते हैं न कि तालाब का बँधा हुआ जल जो सड़ कर दुर्गन्ध पैदा करता है और अन्ततः सूख जाता है। प्रवहमान संस्कृति समय-समय पर उत्पन्न जड़ीभूत रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों को लाँघती रहती है इसीलिए निर्मल एवं अविच्छिन्न रूप में वह जीवित रहकर भावी पीढ़ी को सुखी और सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन प्रदान करती है।

पौरुष-विहीन पुरुष के गले बँधी पत्नी कभी भी सामाजिक मर्यादा को तोड़ सकती है। उसकी स्वाभाविक घुटन कभी भी गृहस्थ जीवन की गरिमा में विस्फोट कर सकती है और इससे संस्कृति में विघटन की प्रक्रिया का आरंभ भी हो सकता है। आचार्य द्विवेदी ने पुनर्नवा की चन्द्रा के उस निर्णय का स्वागत किया है जिसके द्वारा उसने अपने क्लीव पति को त्याग कर गोपाल आर्यक को पति स्वीकार करने का साहस दिखलाया। स्त्री-पुरुष के बीच स्वाभाविक सम्बन्ध उत्पन्न करने वाले प्रेमाकर्षण को सांस्कृतिक दिशा देने की चेष्टा इस उपन्यास में सर्वत्र दिखती है जिसे हम मंजुला, चन्द्रा मांद और वसंतसेना को सामने रखकर देख सकते हैं। प्रेम को भोग-वासना का कारण न मानकर उसे कर्त्तव्य भावना को प्रेरित करने वाला एक आवश्यक तत्व स्वीकार करना द्विवेदी जी के उपन्यासों की सांस्कृतिक चेतना की महती उपलब्धि है। 'चारुचन्द्रलेख' की चन्द्रलेखा भी इसी प्रेरणा की वाहिका है, 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की भट्टिनी भी इसी प्रेरणा की स्रोत है और 'अनामदास का पोथा' की जाबाला तो समूची तापस संस्कृति को ही कर्मोन्मुख करने की शक्ति रखती है। भारतीय संस्कृति कभी नारी-निन्दक नहीं रही है। आचार्य द्विवेदी की दृष्टि में कोई स्त्री यदि प्रेमपूर्वक निकट आती है तो उसका परित्याग नहीं करना चाहिए।

दाम्पत्य सूत्र में आबद्ध होकर पवित्र दाम्पत्य व्रत का निर्वाह करना चाहिए। "यह मत भूलना कि यह व्रत है यह व्रत है।" "पूरी राजसभा में वही तो एक सहृदय है जो रस का मर्मज्ञ

है बाकी तो भाँड हैं। ना, देवरात ही तो सच्चा पुरुष हैं। बाकी तो मांस के भुक्खड़ भेड़िये हैं। देवरात को परास्त करना होगा मगर उसी के स्तर पर। उसे पसीना आ गया।" जो महान इस्लाम आ रहा है उसे ठीक-ठाक समझो। उसके एक हाथ में अमृत का भाण्ड है, दूसरे में नग्न कृपाण। वह समानता का मंत्र लेकर आया है, सड़े-गले आचारों को चुनौती देने का अपार साहस लेकर उद्भूत हुआ है और रास्ते में जो बाधक हो उसे साफ कर देने का विकट संकल्प लेकर निकला है। उसने लाखों-करोड़ों को पैरों तले दबाकर उनकी मांस-मज्जा के ढूह पर प्रासाद खड़ा करने की त्रुटि नहीं दिखायी।" आचार्य द्विवेदी किसी भी ऐसे व्यक्ति को लफंगा कहने में संकोच नहीं करते जो एकांकित साधना में लिप्त और सामाजिक हितों से विमुख हो। द्विवेदी जी की टिप्पणी है-"एकांत का तप बड़ा तप नहीं है, बेटा। देखो, संसार में कितना कष्ट है, रोग है, शोक है, दरिद्रता है, कुसंस्कार है। लोग दुख से व्याकुल हैं। ठनमें जाना चाहिए। उनके दुख का भागी बनकर उनका कष्ट दूर करने का प्रयत्न करो। यही वास्तविक तप है। जिसे यह सत्य प्रकट हो गया है कि सर्वत्र एक ही आत्मा विद्यमान है, वह दुःख-कष्ट में जर्जर मानवता की उपेक्षा कैसे कर सकता है।"

बाणभट्ट की आत्मकथा में हर्षवर्धन एक संस्कृत व्यक्ति थे, जिनके द्वारा संस्कृति का अधिकाधिक विकास हुआ। टी० एस० इलियट का कथन है कि संस्कृति के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान देने वाला व्यक्ति भी सदा संस्कृत व्यक्ति नहीं होता। (The person who contributes culture, however important his contribution may be, is not always a cultured person.) "धर्म मानव-निर्मित है, धर्म मानव का निर्माता नहीं" (Man makes religion, Religion does not make man.) कभी-कभी तो धर्म का अन्धानुकरण समाज के विकास में घातक सिद्ध होता है। इसलिए कार्ल मार्क्स ने धर्म को अफीम की संज्ञा दी है, जो लोगों को सही दिशा में सोचने नहीं देता। मार्क्स ने स्पष्ट शब्दों में टिप्पणी की है-यथार्थ मानवीय सुख की यह माँग है कि उसकी उपलब्धि के लिए मिथ्या सुख की सृष्टि करने वाले धर्म का बहिष्कार हो। (The Removal of religion as the illusory happiness of the people is demand for their real happiness —Karl Marx.) आचार्य द्विवेदी भी धार्मिक एवं सांस्कृतिक जड़ता को साहसपूर्वक अस्वीकार करते हैं। 'पुनर्नवा' में स्पष्ट स्वीकार किया है-अगर निरंतर व्यवस्थाओं का संस्कार परिमार्जन नहीं होता रहेगा तो एक दिन व्यवस्थाएँ तो टूटेंगी ही, अपने साथ धर्म को भी तोड़ देंगी। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में आचार्य द्विवेदी टिप्पणी करते हैं-"देख रे, तेरे शस्त्र तुझे धोखा देते हैं। जो तेरे भीतर सत्य है उसे दबाने को कहते हैं, जो तेरे भीतर मोहन है उसे भूलने को कहते हैं, और जिसे तू पूजता है, उसे छोड़ने को कहते हैं।" 'चारुचन्द्र लेख' में वे टिप्पणी करते हैं-"यह सब मिथ्या है। कायरों और भगोडों

को अपना नेता समझने वाली जाति की दशा जो होनी चाहिए, वही आज इस जनसमूह की दशा होगी। निरर्थक मंत्रों की रट देश में प्राणशक्ति का संचार नहीं कर सकती। मनुष्य को देवता बनने के लिए आत्मविश्वास और दृढ़ संयम की आवश्यकता है।" सामाजिक रुचि में परिवर्तन आते ही सौन्दर्य के प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हो जाता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने उपन्यासों में अनेक रूपवती नारियों का आकर्षक चित्र खींचा है। उन पर कहीं से भी बीसवीं शताब्दी की उस नारी की छाया नहीं पड़ने पायी है, जो जीवन के हर क्षेत्र में पुरुषों से प्रतिद्वन्द्विता करती हुई समान अधिकार प्राप्त करने के लिए आन्दोलन करने को तैयार हैं। वह आज भौतिकतावादी आडम्बरपूर्ण प्रसाधनों से सजधज कर लोगों की आँखों को चौंधिया देने की होड़ लगा रही है। नारियों का सौन्दर्य उनके प्रसाधनों पर नहीं, बल्कि उनके गुणों पर आधृत है जो स्वाभाविक लज्जा एवं संकोच के कारण और भी आकर्षक बन जाता है। आचार्य द्विवेदी जब नारी-सौन्दर्य का चित्रण करने बैठते हैं तो उनके सम्मुख अतीत-कालीन भारत की वे महिमामयी नारियाँ आकर उपस्थित हो जाती हैं जिन्हें चित्रित कर संस्कृत काव्य के स्रष्टा अमर हो गये। वह सौन्दर्य ऐसा सौन्दर्य है, जिसे देखकर पतित व्यक्ति के हृदय में भी भक्ति की भावना उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में भट्टिनी का सौन्दर्य इसी प्रकार का है। 'पुनर्नवा' की मृणाल मंजरी भी इसी प्रकार के भाव की सृष्टि करती है–"आर्यक ने देखा मृणाल मंजरी इन तीन वर्षों में काफी बढ़ गयी है। उसके अंग-अंग से लावण्य की छटा छलक रही थी। आर्यक को देखकर उसके मुरझाये हुए मुख पर आनन्द की आभा दमक आयी थी। उसकी दुग्ध-मुग्ध मुखश्री में इस प्रकार का उफान आया था, जैसे अचानक दुग्ध-भाण्ड को अप्रत्याशित ताप मिल गया हो। परन्तु उसकी आँखों से आँसू झरते रहें।"

'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारुलेख', 'पुनर्नवा' और 'अमानदास का पोथा' चारों ही उपन्यासों में राजा-प्रजा के संबंधों की चर्चा दार्शनिक चिन्तन के स्वरूप, तत्त्वचिन्तन, नारी के स्वस्थ सामाजिक संबंध, वास्तविक धर्मरक्षण के प्रति आग्रह, ग्रहनक्षत्रों के प्रति अनास्था, स्त्री के वास्तविक स्वरूप की चर्चा, सात्विक प्रेम का महत्त्व, सामाजिक संदर्भ में सच-झूठ की वास्तविक स्थिति को लेकर लोकजीवन में नारी को दिए जाने वाले सम्मान की विशद व्याख्या हुई है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में वाराह की मूर्ति का प्रतीकात्मक प्रयोग हमारी जिस सांस्कृतिक उदारता को व्यक्त करता है, उसी प्रकार की व्यंजना 'चारुचन्द्रलेख' में द्विवेदी जी ने नाटी माँ द्वारा बार-बार गाए जाने वाले श्लोक में की है। 'पुनर्नवा' का तो शीर्षक ही ऐसा है जो जड़ता को अस्वीकार करने वाला है। इस प्रकार मानव के अस्तित्व को दृढ़ करने वाली

विकासमान संस्कृति के परिवेश में लिखे गए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास हिन्दी कथा साहित्य को अनुपम देन है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य की अन्य विधाओं में भी उसी प्रकार का उल्लेखनीय कार्य किया है जैसा कि उनके उपन्यासों में उपलब्ध हैं। हिन्दी निबन्ध साहित्य के क्षेत्र में विशेषकर व्यक्तिव्यंजक और ललित निबंधों में आचार्य द्विवेदी के साथ हिन्दी के किसी भी रचनाकार का नाम नहीं लिया जा सकता। वे इस क्षेत्र में अप्रतिम थे। हिन्दी समीक्षा और हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के क्रम में उनकी विशिष्ट उपलब्धियाँ रही हैं। उन्होंने हिन्दी साहित्य को अभिन्न परिप्रेक्ष्य में देखने के लिए विवश किया है। गंभीरतापूर्वक यदि विचार किया जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य में इन विधाओं के माध्यम से भी अपनी मानवतावादी दृष्टि को ही वाणी दी है जैसा कि उन्होंने अपने उपन्यास साहित्य में।

हजारीप्रसाद द्विवेदी की कथा-भाषा

पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'

कथाकार हजारीप्रसाद द्विवेदी की कथा-भाषा अपने साभिप्राय सम्प्रेषण के लिए सतत् सचेष्ट यदि एक ओर आलोक और आवरण की द्वि-आयामी कथा-भाषा है तो दूसरी ओर भाषिक संकेतों के साथ-साथ भाषिकेतर संकेतों के प्रयोग की बहुआयामी कथा-भाषा भी।

द्विवेदीजी की दूसरी कथाकृति 'चारुचन्द्रलेख' में तपस्वी कहता है, 'भाषा बड़ी रहस्यमयी देवी है। ...महामाया का सबसे परिष्कृत रूप भाषा है। सत्त्वोन्मुखी होकर वह प्रकाश देती है, किन्तु तमोगुण की ओर उन्मुख होने पर वह केवल मोह की सृष्टि करती है, केवल आवरण उत्पन्न करती है, केवल कुहेलिका का जाल ताना करती है।[१]आचार्य द्विवेदी की कथा-भाषा में भाषा के उक्त सतोगुणी और तमोगुणी-जागरण और मोह, आलोक और आवरण, स्पष्टता और कुहेलिका जैसे दोनों ही पक्ष प्राप्त होते हैं। द्विवेदी जी भाषिक सम्प्रेषणीयता को महत्त्व देते हैं, पर आवरण और अवगुंठन का निषेध नहीं करते हैं। छायावादी कवि प्रसाद के काव्य-संदर्भ में विचार करते हुए वे कहते हैं, "आवरण और अवगुंठन बुरा क्या है? विधाता ने तो सारे संसार में अवगुंठन का जाल बिछा रखा है। नग्न और अनावृत्त सत्य उन्हीं को इष्ट नहीं है। यह आलोक और अंधकार की आँख-मिचौनी तो उन्होंने चला रखी है।"[२] अत: बहुत स्वाभाविक है कि इस मान्यता का पक्षधर सर्जक-उपन्यासकार भी अपनी रचना में हर-कहीं नग्न और अनावृत्त सत्य को व्यक्त नहीं करना चाहता है। फलत: उसके अपने कथाभाषा-संसार में भी आलोक और अंधकार की आँख-मिचौनी चलती है।

वास्तव में आलोक और अंधकार की आँख-मिचौनी का क्षेत्र सर्जन की भाषिक रचना-प्रक्रिया की बनावट और बुनावट का क्षेत्र होता है। 'चारुचन्द्रलेख' में ही जल्हण को अपने पूछे गये प्रश्न के उत्तर में पिता का कथन स्मरण आता है। चन्द अपनी रचना-प्रक्रिया को स्पष्ट करता हुआ कहता है कि "कई बार मेरे चित्त में जो उठता है वह वाणी की रस्सी पकड़ कर कहीं ऐसी जगह चला जाता है, जो चित्तगत आरंभिक विचारों से एकदम भिन्न होता है। मैंने कई बार सोचा है कि ऐसा क्यों होता है? मुझे ऐसा लगता है कि मेरे अंतरतर में कोई और बैठा है, जो मेरी वाणी में छन्दों के पर बाँध देता है और वह प्रयोजनों की दुनिया से ऊपर बहुत-ऊपर विपुल व्योम में उड़ने लगती हैं।"[३]कथाकार द्विवेदी की कथा-भाषा से गुजरते हुए विशेषत: 'वाणभट्ट की आत्मकथा' को पढ़ते हुए उनकी कथा-भाषा की सर्वोपरि विशेषता उसका अद्भुत, पर वैविध्यमूलक रूप में कल्पना-प्रधान, भावावेगी और काव्यात्मक होना है, जिसमें सर्वाधिक रूप में भाषा का सौन्दर्यपरक प्रकार्य (Aesthetic Function) क्रियाशील होता है। उनकी

भाषिक सर्जना में यह मोह, आवरण और कुहेलिका का पक्ष है। पर चन्द अपनी बात आगे बढ़ाता हुआ जल्हण से कहता है–"जब उस देवता का उल्लास मेरी वाणी के साथ मुखर होता है तो (मैं) कुछ और हो जाता हूँ। मेरी वाणी में लाख-लाख लोगों की आशाओं और आकांक्षाओं के स्वर झंकृत हो उठते हैं। ...जन-चित्त की समष्टि-शक्ति ही वह विशेष बात है, जो कवि को कुछ और बना देती है।[४] कहना न होगा कि द्विवेदी जी के कथा-संसार से गुजरते हुए धीरे-धीरे यह स्पष्ट होने लगता है कि 'जनचित्त की समष्टि-शक्ति' उनकी कथा-भाषा का आलोक-पक्ष है, उसकी प्रोक्तिगत विशेषता (Discourse Feature) है। प्रोक्ति (Discourse) को आधुनिक भाषाविज्ञान में वाक्योपरि या वाक्यातीत स्तर की इकाई माना जाता है। वास्तव में यह अनेक वाक्यों की परस्पर ग्रंथित वह शृंखला है, जिसमें सांदर्भिकता के साथ-साथ तार्किक अनुक्रम और आंतरिक संसक्ति विद्यमान रहती है। एक प्रोक्ति का प्रत्येक वाक्य परस्पर सापेक्षिक और नैरन्तर्यमूलक व्यवस्था को द्योतित करता है। चाहे 'बाणभट्ट की आत्मकथा' हो या 'चारुचन्द्रलेख', 'पुनर्नवा' हो या 'अनामदास का पोथा'–इनकी प्रोक्ति-भाषा भाषा में आलोक का, स्पष्टता का, जागरण का यह पक्ष भी सोद्देश्य और साभिप्राय रूप में मुखर हुआ है। 'जनचित्त की समष्टि-शक्ति' की प्रोक्ति-परकता के अतिरिक्त द्विवेदी जी अपनी कथाभाषा में अनेक संज्ञाओं, पारिभाषिकों को अनावृत्त-व्याख्यायित करते हुए भी आलोक, स्पष्टता और जागरण का पक्ष संपुष्ट करते दीखते हैं। इस रूप में वे सार्त्र के इस कथन को सार्थकता देते हैं कि 'किसी वस्तु को नाम देने का अर्थ है (था) उसको निरावरण करना, फिर उसकी रचना करना, उसे ग्रहण करना तथा आत्मसात् करना।'[५] द्विवेदी जी भी नाम देते हैं, उसे निरावृत करते हैं, उसकी पुनस्सर्जना करते हैं तथा उसे आत्मसात् करते हैं।

'पुनर्नवा' में देवराज कहते हैं, "यहाँ शुद्ध स्वर्ण कहीं नहीं है, सब जगह खाद मिला हुआ है। सब कुछ शुद्ध सुवर्ण और खाद से बना हुआ हेमालंकार है।"[६] कथाकार द्विवेदी की कथाभाषा को भी, हम चाहें, तो इस कथन की सटीकता को देखते हुए हेमालंकारी कथाभाषा कह सकते हैं। उनकी कथाभाषा में स्वर्ण और खाद के इस मेल को देखते हुए ही डॉ० नामवर सिंह को यह लिखना पड़ा है कि "गद्य में उनका भदेसपन है, कल्पनाशीलता भी, अंगदकूद भी, ढीलाढालापन भी, भाषा का सहज प्रवाह भी और बीच-बीच में उद्धरण देने का शौक भी।"[७] पर इन सबके बीच मुझे जो बड़ी बात सर्वत्र दीखती है वह है उसकी कथाभाषा की छन्दोमयता। जैसे 'सुचरिता' का सारा शरीर ही छन्दों में बना था, उसके वस्त्र उसके पदविक्षेप, उसका कंठस्वर, उसकी दृष्टि-सब कुछ छन्दोमय थे, वैसे ही आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की यह कथाभाषा अपनी हेमालंकारिता में सर्वत्र छन्दोमयता से भरी है।

उनकी मोहात्मक सृष्टि करने वाली कथाभाषा अपनी संरचना में समुच्चय शैली में

स्वरूपित हुई है। समुच्चय शैली समांतरता (Parallelism) पर आधारित होता है और गद्य-लय (Prose-rhythm) की सृष्टि करती है। पर समांतरता जहाँ एक बार के आवर्तन से ही स्वरूपित हो उठती है, वहाँ समुच्चय शैली के लिए एक से अधिक बार किया जाने वाला आवर्तन अपेक्षित होता है। वास्तव में यहाँ आवर्तन-संरचना का पूरा गुच्छा विद्यमान होता है। इस रूप में इसे घनत्वमूलक या शृंखल समांतरता कहा जा सकता है। द्विवेदी जी की कथाभाषा में उनकी यह समुच्चय शैली वाक्यांश और वाक्य-संरचना के स्तर पर 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में सर्वाधिक क्रियाशील है। वहाँ मुख्यत: यह शैली 'इनेत' (Enate) प्रकार की संरचना में प्राप्त होती है। एच० ए० ग्लियसन के अनुसार– `Two sentences may be said to be enate if they have identical structures, that is, if the elements (Say, words) at equivalent Places in the Sentences are of the same clauses and is the construction in which they occur are the same.' अभिप्राय है कि जब दो या दो से अधिक वाक्यांशों, उपवाक्यों अथवा वाक्यों के बीच समान संरचना पायी जाती है और जब उनमें निहित भाषिक तत्त्व या शब्द समतुल्य अंतराल पर आते हैं और वे एक ही व्याकरणिक वर्ग के होते हैं–जैसे संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया-विशेषण, पूर्वकालिक क्रिया, कारक-परसर्ग आदि और उनकी बनावट भी एक-जैसी होती है तब वहाँ 'इनेत' (Enate) संरचना उपस्थित होती है। वास्तव में कथाकार हजारीप्रसाद द्विवेदी की कथाभाषा का यह एक ऐसा भाषा-वैशिष्ट्य है, जो अपनी प्रकृति और आनुपातिकता–दोनों रूपों में उन्हें अन्य हिन्दी उपन्यासकारों से विलगाता हुआ उन्हें निजता-निहंगता (Individuality and Singularity) प्रदान करता है। सच्चाई तो यह है कि उनकी समुच्चय शैली की समांतरता याकोब्सन की समांतरता के साँचे में नहीं अटती है–'पाट-पाट शोभा-श्री पट नहीं रही है।' उनके यहाँ याकोब्सन-निर्दिष्ट समांतरता का विवेचन और वर्गीकरण बहुत पीछे छूट जाता है। वास्तव में द्विवेदी जी की कथाभाषा उस प्रकार के उदाहरण या लक्ष्य-भंडार के रूप में हमारे सामने आती है, जिसके आधार पर समांतरता के अनेक नये भेद-प्रभेदों को रेखांकित करते हुए, उसके विशिष्ट नये तेवरों की पहचान करते हुए 'समांतरता' जैसे अभिलक्षण को और विस्तृत तथा और गहन रूप में स्वरूपित करने की अनिवार्यता उपस्थित होती है। 'चारुचन्द्रलेख' का धीर शर्मा जैसे श्लोकों की झड़ी लगा देता है वैसे ही कथाकार हजारीप्रसाद द्विवेदी अपनी कथा-भाषा में एक ही प्रकार की भाषिक संरचना की झड़ी लगाकर समांतरता जैसे भाषिक अभिलक्षण की समुच्चय शैली की सृष्टि करते हैं। यहाँ उनकी कथा-भाषा का प्रवाह रेखीय (Linear) नहीं रह जाता, अपितु वृत्तीय (Circular) हो जाता है। यह समुच्चय शैली विभिन्न प्रकार से उपस्थित होती है। नीचे इसके उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

१. अलंकार-मूलक समुच्चय शैली

(क) मालोपमामूलक समुच्चय शैली

१. वे उजड़े हुए देवमन्दिर की भाँति, रास्ते में फेंकी हुई प्रतिमा की भाँति, कीचड़ में धँसी हुई मालती-माला की भाँति अपनी-अपनी प्रतिभा खो चुकी थीं, अपना सम्मान भूल चुकी थीं, और अपनी शुचिता म्लान कर चुकी थीं। (बाणभट्ट की आत्मकथा, पृष्ठ ९३)

(ख) उत्प्रेक्षामूलक समुच्चय-शैली

१. इन्द्रिय-समूह के प्रसाद ही मानो वर्षित हो रहे हैं, तपस्या के रस ही (मानो) अभीत हो रहे हैं, आँखों की धवल प्रभा ही मानो द्रवित होकर गिर रही है, पवित्रता की मेघ-माला ही मानो बरस रही है और कृतज्ञता की मुक्त माला ही मानो छिन्न होकर मोतियों के रूप में बिखर रही है। (वही, पृष्ठ ९७)

(ग) रूपक-मूलक समुच्यय शैली

१. गंगा कैलाश की समस्त धवलिमा की मूर्तिमती धारा है, हर-जटा से चुई हुई चन्द्रमा के पीयूष का स्रोत है, ब्रह्मा के कमंडलु से ढुलकी वेद-विद्या का प्रभाव है, आर्यावर्त के जनगण मातृत्व का चिरंतन आश्रय है। (वही, पृष्ठ २०४)

यद्यपि द्विवेदी जी की कथाभाषा में निषेधात्मक और प्रश्नात्मक–दोनों प्रकार की वृत्तिकता की समुच्चय शैली प्राप्त होती है, पर कुल मिलाकर उनके यहाँ प्रश्नात्मक वृत्तिकता की समुच्चय शैली प्राप्त होती है, जिसका अनुपात निषेधात्मक वृत्तिकता से कहीं अधिक है। यहाँ वृत्तिकता के रूप में प्रश्नात्मक और निषेधात्मक–दोनों ही वृत्तिकता को उनका शैलीचिह्नक माना जाएगा।

इस प्रकार द्विवेदी जी की कथा-भाषा में प्राप्त होने वाली इस विविधरूपा समुच्चय शैली की अनेक विशेषताएं हैं। इनका प्रयोग-फलक उनके यहाँ अत्यन्त व्यापक है। जहाँ उनके यहाँ अलंकार-मूलक समुच्चय शैली आवरण, अवगुंठन और अन्धकार की सृष्टि करती है, वहीं व्याकरण मूलक और प्रोक्तिमूलक समुच्चय शैली कुहेलिका को मिटाती आलोक और स्पष्टता का प्रसार करती है।

अपनी समुच्चय शैली में संख्या-प्रयोग की दृष्टि से उन्होंने अनेक प्रकार की संरचना के दस बार तक घनत्व और नैरन्तर्यमूलक आवर्तित प्रयोग किये हैं। इसके बाद क्रमशः नौ, आठ, सात, छह, पाँच, चार, और तीन की संख्या आती है। पर इन सभी संख्याओं में द्विवेदी जी को अपनी समुच्चय शैली में तीन की संख्या सर्वाधिक प्रिय है। इसीलिए वे अपनी समुच्चय शैली में किसी भी प्रकार की संरचना का प्रायः तीन बार आवर्तन करते दीखते हैं। यह आवर्तन उनके यहाँ सर्वाधिक देखने को मिलता है। चाहे संज्ञा, विशेषण और क्रिया की आवर्तक संरचना हो,

चाहे नाभिक, बलात्मक निपात और निषेधात्मक निपात की, चाहे संज्ञा और कारक परसर्ग की आवर्तक संरचना हो। चाहे विशेष्य-विशेषण की, चाहे विशेषण-विशेष्य की आवर्तक संरचना हो, चाहे विशेषण-क्रिया की–इन सब का अधिकाधिक आवर्तन उनकी कथा-भाषा में तीन बार ही उपस्थित होता है। उनके यहाँ क्या नामिक, क्या कर्मकता, क्या क्रियात्मकता और क्या उपमानमूलकता–हर कहीं इस तीन संख्या की ही प्रमुखता-विशिष्टता है। उनकी कथाभाषा में मध्यसंरोधी शैली का संदर्भ हो या इस शैली में नामिक के विशिष्ट प्रयोग का या निपात से जुड़े संज्ञा-युग्म के प्रयोग का–पर आवर्तन की समुच्चयता अधिकांश स्थल पर तीन की ही दीख पड़ती है। यह स्थिति उनकी प्रत्येक उपन्यास-कृति में विद्यमान है, चाहे उसका साँचा बड़ा हो या छोटा। यहाँ तक कि द्विवेदी जी इस कौशल को केवल शब्द-स्तर तक पर भी अपनाते दीखते हैं। पुनर्नवा में द्विवेदी जी ने लिखा है कि पाँच की संख्या मथुरावासियों को बहुत प्रिय है। उसी तरह कहा जा सकता है कि स्वयं द्विवेदी जी को तीन की संख्या से ऐसा ही लगाव है। उनकी सारी कृतियों में 'चारुचन्द्रलेख' वह विशिष्ट कृति है, जिसमें इस त्रिक् समुच्चय शैली के शताधिक प्रयोग प्राप्त होते हैं। वास्तव में उनकी समुच्चय शैली का यह वैशिष्ट्य उनका व्यामोही भाषा-प्रयोग है। फलतः उनकी समुच्चय शैली के अन्तर्गत इसे उनका **निजी शैली-चिह्नक** (Style Marker) माना जाएगा।

द्विवेदी जी की इस समुच्चय शैली का साँचा उनकी आरम्भिक कथाकृति की भाषा में बहुत प्रसरणशील और व्यापक है। वहाँ इसका दीर्घतम संघट्ट तक प्राप्त होता है। वास्तव में उन्होंने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में अपनी समुच्चय की शैली का ठाठ बाँधा है। पर धीरे-धीरे उनकी परवर्ती कथा-कृतियों–'चारुचन्द्रलेख', 'पुनर्नवा' और 'अनामदास का पोथा'–में यह साँचा लघुतर होता जाता है। एक-आध अपवाद को छोड़ दें, तो 'पोथा' में आकर यह साँचा लघुतम हो जाता है।

कहना न होगा कि द्विवेदी जी की कथा-भाषा के समुच्चय शैली घनत्व-मूलक, शृंखल, स्थानिक, समांतरता पर आधारित अग्रप्रस्तुति (Foregrounding) की विशेषता को उजागर करने वाली है, जिसमें भाषा का सौन्दर्यात्मक प्रकार्य (Aesthetic function) आद्यन्त क्रियाशील रहता है। पर इसके साथ ही उनकी समुच्चय शैली में भाषा के अभिव्यंजनात्मक प्रकार्य (Expressive) को भी महत्त्व प्राप्त हुआ है। उनकी यह समुच्चय शैली भाषा के अनेकविध रूपांतरण-कौशल (Devices of Transformation) को भी प्रस्तुत करती है, जिनमें अधिवर्धक (Additive), विपर्यस्त (Disordered) और विचलित (Deviated) कोटि के कौशल प्रमुख हैं।

२. समंजस शैली (Coherence Style)

समंजस शैली समंजसता (Coherence) पर आधारित होती है। समंजसता सूचना-इकाइयों की तार्किक संगति के प्रति संकेन्द्रित है, जबकि संसक्ति (Cohesion) शाब्दिक और व्याकरणिक इकाइयों से सरोकार रखती है।[८] समंजसता के दो प्रकार होते हैं–१. स्थानिक समंजसता (Local Coherence) और २. व्यापक समंजसता (Global Coherence)।[९] स्थानिक समंजसता जहाँ पाठात्मक अनुक्रम के वाक्यों के बीच सूचना-इकाइयों के सम्बन्धों की तार्किक संगति को ध्यान में रखती है वहाँ व्यापक समंजसता वाक्यों के सारे कुलक–पूरी प्रोक्ति के बीच की तार्किक संगति को ध्यान में रखती है। स्थानिक समंजसता भाषा की लघु संरचना (Micro Structure) के स्तर पर क्रियाशील होती है, पर व्यापक समंजसता भाषा की बृहत् संरचना (Macro Structure) के स्तर पर अपनी सक्रियता दिखाती है।

द्विवेदीजी समंजश शैली के भी विशेष प्रयोक्ता हैं। वे अपनी कथा-भाषा में पाठ के पूरेपन में प्रोक्ति की समांतरता या आवृत्ति का ऐसा व्यवहार करते हैं, जिससे अन्तराल के बाद भी यह बार-बार उपस्थित होती है और सूचना-इकाइयों की तार्किक संगति के प्रति संकेन्द्रित रहकर पाठ की पूरी अर्थवत्ता या कथ्यबिन्दुगत साभिप्रायता पर प्रकाश डालती, विशिष्ट समंजस शैली को जन्म देती है। द्विवेदी जी अपनी कथा-भाषा में पाठ की स्थानिकता में समांतरता का समुच्चय शैली का प्रयोग करते हुए समंजस शैली का निदर्शन प्रस्तुत करते हैं।

द्विवेदी जी की कथाभाषा में आलोक, स्पष्टता और जागरण के पक्ष को प्रस्तुत करने वाली विभेदक शैली, निर्वचनात्मक शैली, मोचक शैली जैसी अनेकानेक शैलियों के बीच समंजस शैली का विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। कहना न होगा कि यह उनकी भाषिक संरचना की प्रिय शैली है। नीचे उनकी सामंजस शैली के कुछ महत्त्वपूर्ण उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

(क) किसी से भी नहीं डरने की प्रोक्ति की समंजस शैली

१. डरना किसी से भी नहीं, गुरु से भी नहीं, मन्त्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं। (बाणभट्ट की आत्मकथा, पृष्ठ १३०)

२. सिर्फ दूर से बादलों को चीरकर एक आवाज कानों में प्रवेश करती रही– किसी से न डरना गुरु से भी नहीं, मंत्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं। (वही, वृष्ठ १२९)

३. विरांतक के साथ वे साधना-गृह में चले गये और मुझे थोड़ी देर बाद आने का आदेश दिया। चलते-चलते कहते गए–'किसी से नहीं डरना, गुरु से भी नहीं, मंत्र से भी नहीं।' (वही, पृष्ठ १४०)

(ख) प्रत्यन्त दस्यु के फिर आने की और अमृत के पुत्रों को पुकारने की उद्बोधनात्मक

प्रोक्ति की समंजस शैली–

१. भाइयो, फिर प्रत्यन्त दस्यु आ रहे हैं (बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० १५०)
२. भाइयो, प्रत्यंत-दस्यु आ रहे हैं। (पृ० १५१)
३. भाइयो, प्रत्यन्त-दस्यु आ रहे हैं। (पृ० १५१)
४. भाइयो, प्रत्यन्त-दस्यु फिर आ रहे हैं। (पृ० १५२)
५. भाइयो, प्रत्यन्त-दस्यु फिर आ रहे हैं। (पृ० १५२)
६. अमृत के पुत्रों, शांत होओ। (पृ० १९४)
७. अमृत के पुत्रों, संयम से काम लो। (पृ० १९५)
८. अमृत के पुत्रों, न्याय जहाँ से भी मिले, खींच लाओ। (पृ० १९५)
९. जवानों, प्रत्यन्त दस्यु आ रहे हैं। (पृ० २५४)
१०. अमृत के पुत्रों, प्रत्यन्त-दस्यु आ रहे हैं। (पृ० २५४)
११. जवानों, प्रत्यन्त दस्यु आ रहे हैं। (११ बार आवर्तित, पृ० २५५)
१२. अमृत के पुत्रों, प्रत्यन्त-दस्यु आ रहे हैं। (११ बार आवर्तित, पृ० २५६)
१३. जवानों, प्रत्यन्त दस्यु आ रहे हैं। (२ बार, आवर्तित, पृ० २५६)

३. संरोधी बनाम मोचक शैली (Arrest V/s Release Style)

हिन्दी भाषा की वाक्य-संरचना की संरोधी (Arrest) और मोचक (Release) शैलियों में वाक्य-संरचना का क्रमशः अवरोधन और अवर्तन होता है। पर संरोधी शैली में जहाँ वाक्य के अन्तर्गत ऐसा वाक्य या वाक्यांश विन्यस्त होता है जो प्रकर्त्ता (Agent) को क्रियात्मक (Virbal) से जुड़ने की सहज शीघ्र आकांक्षा को बाधित कर देता है वहाँ मोचक शैली में वाक्य से वाक्य लगातार संग्रथित होकर विस्तारित होते चले जाते हैं।

कथाकार द्विवेदी जी की भाषा में संरोधी शैली का जितना अभाव प्राप्त होता है, उतना ही मोचक शैली का आधिक्य देखने को मिलता है। उनके यहाँ बहुत कम प्राप्त होने वाली संरोधी शैली की कथाभाषा का एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

कादम्बरी में प्रेम के जिन शारीरिक विकारों का–अनुभावों का, हावों का, अयत्नज अलंकारों का–प्राचुर्य है उनके स्थान में कथा में मानस-विकारों का–लज्जा का, अवहित्था का, जड़िमा का–अधिक प्राचुर्य है। (बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० २९२)

मोचक शैली द्विवेदी जी का वाक्यस्तरीय शैली-चिह्नक है। इसकी प्रभूतता के कुछ उदहारण द्रष्टव्य हैं–

आकल्पित शिखा। अहा 'किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम्'। (चारुचन्द्रलेख)

६. उद्घाटक-निर्वचनात्मक शैली

कथाकार द्विवेदी की भाषा की एक शैलीगत विशेषता शब्दों में छिपे मर्म को निर्वचनात्मक व्याख्या के द्वारा उद्घाटित करने की भी है। वे कठिन-से-कठिन शब्दों का भी जब अपनी कथाभाषा के संदर्भ में औचित्यपूर्ण प्रयोग करते हैं, तब विविध संभाव्य प्रकारों से उसकी ऐसी सुस्पष्ट व्याख्या कर देते हैं; जिससे उसकी सम्प्रेषणीयता निखर उठती है और पाठक के मन में उसका प्रत्यय स्पष्ट तौर पर प्रत्यक्ष हो उठता है।

७. भाषिक सजगता की शैली

कथाकार द्विवेदी जी अपनी कथा-भाषा में प्राय: विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूपों में भाषिक सजगता की चेतना से अनुप्राणित दीखते हैं। भाषा-प्रयोग और भाषा-प्रर्यवेक्षण-विषयक यह सजगता उनके कई पात्रों की व्यक्तित्व-विशेषता के रूप में सामने आती है। कहना न होगा कि उनकी यह शैली कथा-भाषा के क्षेत्र में इस दृष्टि से भापिक सजगता का एक और आयाम उद्घाटित कर देती है।

नीचे इस शैली के उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

विद्याधर भट्ट की भाषिक सजगता

"आवश्यकता से अधिक वे एक शब्द भी नहीं बोलते थे। एक-एक शब्द का उच्चारण वे इस प्रकार करते थे मानो तौल-तौलकर देख रहे हों। धीर शर्मा की भाँति श्लोकों की झड़ी लगा देना वे बिल्कुल पसन्द नहीं करते थे। यदि आवश्यकता न हो, वे मौन रहना ही पसन्द करते थे। उनके मुख से एक शब्द भी तभी निकलता जब उसके बिना काम नहीं चल सकता था।" (चारुचन्द्रलेख, पृ० ३१)

८. भाषिकेतर संकेत-शैली

कथाकार द्विवेदी जी की भाषा में भाषिकेतर संकेत-शैली भी प्राप्त होती है। उनके यहाँ इस संकेत शैली के कई रूप हैं उनमें अँगुली-संकेत की भाषा, हँसी की भाषा वास्तु, आदि के उदाहरण प्राप्त होते हैं। उनकी मान्यता है कि, "जिस भाषा का अर्थ समझ में नहीं आता, उसका अर्थ है ही नहीं, यह कैसे कहा जा सकता है। यह आकाश, भरा-तारक मंडल, चंचल पवन, उत्धूम अग्निशिखा की समता करने वाला संध्याकालीन गिरि-कुहर--सबका अर्थ होना चाहिए।" द्विवेदी जी की इस मान्यता में और अस्तित्ववादी चिंतक ज्याँ-पाल सार्त्र की मान्यता में बुनियादी अन्तर है। सार्त्र के लिए 'संसार का प्रत्येक संकेतार्थ निरर्थक है। उनके अनुसार जगत् में सब-कुछ अर्थहीन है, यदि कोई मानवीय उद्देश्यों का सिलसिला नहीं जो वस्तु को अर्थ

और क्रियाशीलता देता है, तो प्राकृतिक या स्वर्गिक योजना भी नहीं, जिसमें आरम्भ होकर वस्तुएँ एक अर्थ पाती हों या जगत् में अपना स्थान पाती हों।' पर कथाकार द्विवेदी जी के लिए इस संसार के सारे संकेत सार्थक हैं।

(क) दृष्टि-भाषा

द्विवेदी जी के यहाँ आँखों की भाषा की अनेक मुद्राएँ हैं। इन मुद्राओं के निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

१. 'निपुणिका ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से डाँटा, हल्ला क्यों करते हो, धीरे-धीरे बोलो।' (बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० १७)

२. 'निपुणिका ने एक बार कनखियों से डाँटा, बोली–पान खाओ।' (वही, पृ० २०)

निष्कर्ष

इस प्रकार हजारी प्रसाद द्विवेदी की कथा-भाषा समुच्चय शैली, समंजस शैली, संरोधी बनाम मोचक शैली, विभेदक प्रोक्ति की शैली, अन्तरपाठीय शैली, उद्घाटक-निर्वचात्मक शैली, भाषिक सजगता की शैली, और भाषिकेतर संकेत की शैली की अनेकानेक विशेषताओं से भरी-पूरी है। उनकी कथाभाषा परम्परित सर्जनात्मक भाषा की विशेषताओं से युक्त होकर भी नयी जमीन तोड़ने वाली है तथा शैली के व्यक्तिपरक वैशिष्ट्य को भी उजागर करने वाली है, जिसके मूल में उनकी सम्पूर्ण सांस्कृतिक चेतना, और ज्ञान-संज्ञान की समृद्धि रसी-बसी है। उनकी कथा-भाषा में अनेक विच्छित्तियाँ हैं, गहराई और फैलाव की गुणवत्ता है और है पाठक-निर्माण की अद्भुत क्षमता। सबसे बड़ी बात उनकी कथाभाषा में कथारस की सुरक्षा है। किन्तु जैसा कथाकार द्विवेदी जी 'अनामदास का पोथा' के आरंभ में अनामदास की रचना के विषय में स्वयं कहते हैं कि 'शायद यह और कुछ नहीं, इसका मात्र-ज्ञान है कि कहाँ रुक जाना चाहिए, कहाँ मुड़ जाना चाहिए, कहाँ तेज चलना चाहिए, यह अनाम को मालूम है, पर कितना नहीं लिखना है यह नहीं मालूम'–उनका यह कथन स्वयं उनकी अपनी कथा-भाषा पर भी पूरी तरह लागू होता है। उन्हें रुकना, मुड़ना, तेज चलना–उपराम, यदि, गति–पर तो निश्चय ही अधिकार प्राप्त है, पर कितना कम लिखकर कितना अधिक व्यंजित करना चाहिए अर्थात् सर्जनात्मक भाषा के इस मौन पर उन्हें पूरा अधिकार प्राप्त नहीं हो पाया है।

संदर्भ

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी, चारुचन्द्रलेख (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, १९६३, पंचम आवृत्ति १९७२) पृ० ७६

२. वही, हिन्दी साहित्य (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन)

३. वही, चारुचन्द्रलेख, पृ० २७६

४. हजारीप्रसाद द्विवेदी, चारुचन्द्रलेख (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, १९६३, पंचम आवृत्ति १९७२), पृ० २७६

५. ज्यां पाल सार्त्र, शब्दों का मसीहा, प्रभा खेतान (दिल्ली : सरस्वती विहार, १९८५) पृ० २३

६. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पुनर्नवा (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, १९७३, तृतीय संस्करण, १९७७), पृ० २३

७. नामवर सिंह, दूसरी परम्परा की खोज (दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, १९८२), पृ० ११६

८. चित्रा फर्नाडो, 'कोहरेंस इन लिटरेरी टेक्स्ट', स्टाइल, स्ट्रक्चर ऐंड क्रिटिसिज्म, सम्पादक डेविड बर्ख (दिल्ली : बाहरी पब्लिकेशंज़ प्राइवेट लि० १९८५), पृ० १५८

९. टी० ए० वान, डिज्क़, 'सिमेंटिक रिलेशंज इन डिस्कोर्स', स्टडीज इन द प्रैग्मेटिक ऑव डिस्कोर्स (द हेग : मूतन पब्लिशर्ज़, १९८१), पृ० २६८

हजारीप्रसाद द्विवेदी का संस्कृति-चिन्तन

राजश्री शुक्ल

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के साहित्य का अध्ययन करते समय जो एक तत्त्व बार-बार दृष्टि के सम्मुख कौंधता है–वह है उनका संस्कृति-चिन्तन।

वस्तुत: जिस युग में आचार्य द्विवेदी के व्यक्तित्व एवं जीवन-दर्शन का विकास हुआ, उस समय समस्त भारतवर्ष की राष्ट्रीय चेतना महात्मा गांधी के आदर्शवादी मानवीय सिद्धान्तों से अनुप्रेरित हो रही थी। साहित्य का क्षेत्र उसी समय कवि गुरु रवीन्द्र की प्रतिभा से आलोकित हो रहा था। अत: स्वाभाविक ही है कि आचार्य द्विवेदी के गुणग्राही संश्लेषी व्यक्तित्व के चिन्तन को इन दोनों महापुरुषों के आदर्शों ने प्रभावित किया। इसके साथ-साथ इनके पारिवारिक संस्कारों एवं काशी की शिक्षा ने जहाँ इन्हें पारम्परिक चिन्तन-धाराओं से परिचित कराया वहीं शान्तिनिकेतन में शिक्षण करते हुए इनके परिपार्श्विक परिवेश ने इन्हें आधुनिक को परखने की नवीन दृष्टि दी। बलिया के अपने जनपद से इन्होंने कर्त्तव्यनिष्ठा और लोक-जीवन के प्रति विश्वास अर्जित किया।

'सबार उपरे मानुष सत्य, ताहार उपरे नांइ'–की मान्यता को अन्तरतम से स्वीकार करते हुए आचार्य द्विवेदी ने इस सत्य की उपलब्धि की थी कि मनुष्य जीवन की निरन्तर प्रगति के लिए उसका सांस्कृतिक रूप से सचेतन होना बहुत आवश्यक है। यही कारण है कि, अपने लेखन के लिए जीवन के व्यापक क्षेत्रों से विषय चयन करते हुए भी 'संस्कृति' का विषय उनके चिन्तन के केन्द्र से कभी भी नहीं हटता। चाहे वे इतिहास पर विचार कर रहे हों या साहित्य पर चाहे वे प्रकृति के सौन्दर्य का अवलोकन कर रहे हों अथवा संस्कृत साहित्य की चर्चा, चाहे वे गुरु-गम्भीर शैली में गहन विचार में लीन हों अथवा हल्के-फुल्के रोचक-मनोरंजक विषय पर विचार कर रहे हों, संस्कृति-चिन्तन की एक अन्तर्धारा, उनके साहित्य के प्रत्येक अंश से प्रवाहित होती रहती है।

अपने पारिवारिक और शैक्षणिक संस्कारों के कारण यह बहुत संभव था कि आचार्य द्विवेदी आदर्श एवं अन्ध-भारतीयता के एकांगी चिन्तन से प्रभावित हो जाते। परन्तु उन्होंने भारतीय अतीत की सकारात्मकता और पश्चिम की आधुनिकता से सृजनात्मक संवाद किया। अपनी गहन चिन्तन शक्ति और महती प्रतिभा के संयोग से संस्कृति का एक विकासशील श्रेष्ठ रूप उपस्थित किया।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को एक श्रेष्ठ संस्कृति के रूप में भारतीय संस्कृति के प्रति

अगाध श्रद्धा है। यह भारतीय संस्कृति कुछ जड़ तत्त्वों से निर्मित रूढ़ भौगोलिक सीमाओ में बँधी संस्कृति नहीं है। उनकी मान्यता है कि संस्कृति किसी धर्म, सम्प्रदाय, स्थान या काल विशेष की उपज नहीं होती। वह तो मानव समाज में प्रचलित एक ऐसी अन्त:प्रवहमान सलिला के समान है, जिसे नाना प्रकार की जातियों, आस्थाओं, विचारधाराओं और विश्वासों ने मिलकर पुष्ट किया है। भारतीय संस्कृति इसीलिए श्रेष्ठ है, क्योंकि वह समन्वय की शक्ति से युक्त है। आचार्य द्विवेदी लिखते हैं–

"रवीन्द्रनाथ ने इस भारतवर्ष को महामानव समुद्र कहा है। विचित्र देश है यह। असुर आए, आर्य आए, शक आए, हूण आए, नाग आए, यक्ष आए, गंधर्व आए–न जाने कितनी मानव जातियाँ यहाँ आईं और आज के भारतवर्ष के बनाने में हाथ लगा गईं। जिसे हम हिन्दू-रीति-नीति कहते हैं वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का अद्‌भुत मिश्रण है।"

समन्वय की इस चेतना को आचार्य द्विवेदी ने संस्कृति का मूल स्वीकार किया है। क्योंकि इतिहास की निरन्तर प्रवाहमान धारा में से यदि अतीत के जड़ तत्त्वों को अलग न किया जाय तो धारा का वेग मन्द पड़ जायेगा। इसी प्रकार मानवीय समाज और संस्कृति के विकास के लिए इतिहास के श्रेष्ठ एवं सकारात्मक तत्त्वों का सहयोग लेना भी आवश्यक है। भारतीय संस्कृति इसीलिए समन्वय प्रधान संस्कृति है। यहाँ भौतिकता एवं आध्यात्मिकता, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, भोग एवं त्याग, गार्हस्थ्य एवं वैराग्य, देशी एवं विदेशी–सबके बीच समन्वय स्थापित करने का एक प्रयत्न दिखायी देता है। विभिन्न विरोधों एवं भिन्न-भिन्न मान्यताओं में सामंजस्य स्थापित करना ही समन्वय की मूल प्रवृत्ति का द्योतक है। भारतीय जन-जीवन में जिन महापुरुषों ने इस समन्वय को मनुष्य के हित के लिए सिद्ध करने का प्रयत्न किया वे ही लोकनायक बन सके। आचार्य द्विवेदी कहते हैं–"भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है, जो समन्वय कर सके। क्योंकि भारतीय समाज में नाना भाँति की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचारनिष्ठा और विचार-पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे, गीता में समन्वय की चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।"

आचार्य द्विवेदी का संस्कृति चिन्तन इतिहास के साथ गहन रूप से सम्बद्ध है। संस्कृति अपनी अर्थवत्ता के लिए इतिहास के सकारात्मक तत्त्वों का सहयोग स्वीकार करती है। इतिहास के वे तत्त्व, जो मानवीय भविष्य को बेहतर बनाने में अपना योगदान दे सकें, उन्हें ही इतिहास की धारा में बचे रहने का अधिकार होना चाहिए। इसीलिए इतिहास के जड़ तत्त्वों से अपनेपन के नाम पर वृथा आसक्ति, धर्माचार और सत्यनिष्ठा के नाम पर बनी रूढ़ियों की जड़िमा को ध्वस्त होना चाहिए। वृथा आसक्ति की जड़िमा से मुक्त होने का यह प्रयास इतना ईमानदार है कि वे यहाँ तक कहते हैं–"मैं संस्कृति को किसी देश-विशेष या जाति-विशेष की अपनी

मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक ही सामान्य मानव-संस्कृति हो सकती है। यह दूसरी बात है कि वह व्यापक संस्कृति अब तक सारे संसार में अनुभूत और अंगीकृत नहीं हो सकी है।"

आचार्य द्विवेदी के संस्कृति-चिन्तन में समन्वय का प्रयास तो है, पर निरन्तर भारतीय संस्कृति के उच्चतर जीवन मूल्यों को मनुष्य जीवन में आत्मसात् करने पर बल देते रहे हैं। भारतीय संस्कृति में तप, संयम, सेवा, परोपकार, प्रेम आदि के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। इसीलिए नैतिकता, सादगी और त्याग की भावना को वे संस्कृति का मूल मानते हैं।

वे इतिहास विधाता की अवधारणा पर तो विश्वास करते हैं परन्तु इस आधार पर किसी प्रकार के भाग्यवाद को स्वीकार नहीं करते। कर्म की शक्ति में उन्हें अगाध आस्था है। मनुष्य ने अपने परिश्रम के बल पर इस सृष्टि को निरन्तर सुन्दर और सुखप्रद बनाया है। सहस्रों, करोड़ों मनुष्यों के समन्वित कर्म में इतनी शक्ति है कि वह प्रकृति को भी अनुकूल बना लेती है। 'आम फिर बौरा गए' में वे कहते हैं–

"मेरा अनुमान है कि आम पहले इतना खट्टा होता था, और इसका फल इतना छोटा होता था कि इसके फल को कोई व्यवहार में नहीं लाता था। .....धीरे-धीरे यह फल मैदान में आया। मनुष्य के हाथरूपी पारस से छूकर यह लोहा भी सोना बन गया है। .....आम की मंजरी विधाता का वरदान है, पर आम का फल मनुष्य की बुद्धि का परिणाम है। मनुष्य प्रकृति को अनुकूल बना देने वाला अद्‌भुत प्राणी है।"

मनुष्य की शक्ति को पारस पत्थर के समान मूल्यवान मानने वाले आचार्य द्विवेदी की विचारधारा इसीलिए उन्हें मानवीयता के प्रति आस्थावान बनाती है। वे मानते हैं कि संस्कृति में सबसे प्रबल स्वर मानव-प्रेम का होना चाहिए। इसीलिए साहित्य की चरितार्थता भी वे मनुष्यता को विकसित करने में ही स्वीकार करते हैं–"क्या साहित्य और क्या राजनीति, सबका एकमात्र लक्ष्य इसी मनुष्यता की सर्वांगीण उन्नति है।"

आचार्य द्विवेदी के संस्कृति चिन्तन को उनके मानवतावाद से पृथक करके नहीं देखा जा सकता। इनके चिन्तन का यह मानवतावादी पहला समानान्तर रूप से दो भिन्न-भिन्न स्तरों पर चलता है।

पहले स्तर पर वे मनुष्य को पशुता से भिन्न मनुष्यता के धरातल पर स्थापित करना चाहते हैं। डार्विन के विकासवाद के सिद्धान्त को अधिक सूक्ष्म बनाते हुए वे मानते हैं कि मनुष्य ने निरन्तर अपनी आदिम पशुसुलभ प्रवृत्तियों का परिशोधन करते हुए मनुष्यता अर्जित की है। इसीलिए उसे पीढ़ियों के परिश्रम से प्राप्त इस मानवीय संस्कृति को सुरक्षित रखने का प्रयास

करना चाहिए। 'नाखून क्यों बढ़ते हैं' में वे कहते हैं–"मनुष्य पशु से किस बात में भिन्न है। आहार-निद्रा आदि पशुसुलभ स्वभाव इसके ठीक वैसे ही हैं, जैसे अन्य प्राणियों के। लेकिन वह फिर भी पशु से भिन्न हैं। उसमें संयम है, दूसरे के सुख दुःख के प्रति संवेदना है, श्रद्धा है, तप है, त्याग है। यह मनुष्य के स्वयं के उद्‌भावित बन्धन हैं।"

इसीलिए आचार्य द्विवेदी मानते हैं कि मनुष्य के भीतर दबी हुई ये पाशविक प्रवृत्तियाँ जब सिर उठाने लगें तो उन्हें अपने विवेक से दबा देना चाहिए। नाखून जब-जब बढ़ने की कोशिश करें उन्हें काटते रहना चाहिए।

आज के इस भौतिकतावादी यान्त्रिक सभ्यता के युग में जब मनुष्य स्व-केन्द्रित होता जा रहा है। अपने में ही सब कुछ भर कर अपना विकास करना चाहता है। सफलता और प्रतियोगिता की अन्धी दौड़ में उसने अपना वृहत्तर परिवार, संयुक्त परिवार छोड़ा, अपना परिवार एकल परिवार भी छोड़ कर मात्र अपनी सफलता के लिए सोचने लगा। आचार्य द्विवेदी इसे मनुष्यता की दृष्टि से अनुचित मानते हैं। वे कहते हैं–"सफलता और चरितार्थता में अन्तर है। मनुष्य मारणास्त्रों के संचयन से, बाह्य उपकरणों के बाहुल्य से उस वस्तु को पा भी सकता है, जिसे उसने बड़े आडम्बर के साथ सफलता का नाम दे रखा है। परन्तु मनुष्य की चरितार्थता प्रेम में है, मैत्री में है, त्याग में है, अपने को सबके मंगल के लिए निःशेष भाव से दे देने में है।"

आचार्य द्विवेदी के संस्कृति-चिन्तन में मानवतावाद का एक अन्य स्तर है, जो उनके विचारों की आधुनिकता को प्रखरता के साथ स्पष्ट करता है, वह है लोक की शक्ति और लोक-परम्परा पर उनका अगाध विश्वास। अपने समस्त साहित्य में स्थान-स्थान पर उन्होंने इसी सामान्य जनता या लोक की चर्चा की है। उनके विचार से मानव-समाज का इतिहास श्रीमन्तों, सम्राटों अथवा अधिपतियों का इतिहास नहीं है, वह तो उस अधिसंख्य सामान्य मानव की जिजीविषा का इतिहास है, जो स्वयं इतिहास का निर्माता होता है। यह जनता श्रीमन्तों की भाँति धरती से चार हाथ ऊपर नहीं चलती, बल्कि वह यथार्थ धरती पर दृढ़ कदम जमा कर खड़ी होती है। धरती के प्रति, धरती से जुड़े लोक के प्रति उनके धूलि-धूसरित सौन्दर्य के प्रति आचार्य द्विवेदी की आस्था इतनी प्रबल है कि वे इसे सौन्दर्य की खान समझते हैं। कामदेव के धनुष के प्रसंग में 'अशोक के फूल' नामक निबन्ध में वे कहते हैं–"स्वर्गीय वस्तुएँ धरती से मिले बिना मनोहर नहीं होतीं।" जीवन की आधारशिला धरती और इसके प्रति यह निष्ठा आचार्य द्विवेदी को एक यथार्थवादी प्रगतिशील संस्कृति-चिन्तक के रूप में स्थापित करती है। इस जनसामान्य की हित-चिन्ता को लेकर ही आचार्य द्विवेदी के समस्त संस्कृति चिन्तन का भवन तैयार होता है।

आचार्य द्विवेदी स्वयं प्रखर विद्वान थे। आजीवन विद्या की चर्चा-परिचर्चा में रहे, परन्तु जीवन की पाठशाला को उन्होंने सदैव पुस्तकीय ज्ञान के ऊपर वरीयता दी। पण्डितों के पुस्तकीय

ज्ञान की तुलना में लोक में पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचित ज्ञान को वे अधिक वरणीय मानते हैं। दोनों में यदि कहीं विरोध उत्पन्न हो तो वे जनता के साथ होना अधिक सही मानते हैं। उन्होंने कहा है– "पोथियाँ पढ़ता हूँ, उनका सम्मान भी करता हूँ, पर लोकप्रवादों को हँसकर उड़ा देने की शक्ति अभी संचय नहीं कर सका हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि इन प्रवादों में मनुष्य-समाज का जीवन्त इतिहास सुरक्षित है।..........पण्डित की बात की संगति लोक-परम्परा से ही लग सकती है।" –यह है मनुष्य और मनुष्यता की शक्ति में उनका अगाध विश्वास जो उन्हें संस्कृति एवं इतिहास के किसी भी गूढ़ रहस्य एवं उलझन को सुलझाने की कुंजी देता है।

डॉ० नामवर सिंह मानते हैं कि इस दृष्टि से निराला और द्विवेदीजी में अद्‌भुत समानता है। द्विवेदीजी के चिन्तन का क्रान्तिकारी स्रोत उनके अपने जनपद बलिया का लोकजीवन था। यह लोकजीवन की विभूति विशेष रूप से इनके उपन्यासों को समृद्ध बनाती है।

अन्ततः हम कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति के मूल स्वरूप–'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयः सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद दुःख भाग्‌भवेत्' की भावना आचार्य द्विवेदी के संस्कृति चिन्तन का मूल है। यह मनुष्य के हितचिन्तन में लीन, मनुष्य के इतिहास एवं संघर्ष को स्वर देनेवाला एक ऐसा चिन्तन है जिसका मूल स्वर मानव-उत्थान का है। यह मानव जीवन को भौतिक एवं बाह्य दृष्टि से सफल बनाने के स्थान पर उसे आत्मिक रूप से चरितार्थ करने पर अधिक बल देता है। इसीलिए वे मनुष्यता के परिष्कार एवं संस्कार की बात करते हैं। मुक्त, उद्धत स्वाधीनता के स्थान पर स्वतः अनुशासित संकल्प को वरीयता देते हैं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी की संस्कृत-साधना
(स्त्रोत एवं सन्दर्भ)

प्रवीण कुमार मिश्र

संस्कृत-साहित्य के देदिप्यमान नक्षत्रों में गद्य-सम्राट महाकवि बाणभट्ट का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। इनकी अनेक कृतियों में कादम्बरी नामक कथा-काव्य अपने आप में विलक्षण किञ्च विशिष्ट है, जो कि इनके अन्तिम काल की रचना मानी जाती है। महाकवि द्वारा उपर्युक्त कथा-काव्य के पूर्वार्द्ध की जब समाप्ति होने लगी थी, तभी उन्हें अनुभूत होने लगा कि अब उन्हें इसे पूर्ण किए बिना ही इस धराधाम से विदा लेनी पड़ेगी और उनका यह काव्य अपूर्णता के कलङ्क से कलुषित हो जायगा। अत: इसे पूर्ण करने का भार वे अपने पुत्रों को देने के उद्देश्य से एक दिन अपने दोनों पुत्रों को पास बिठाकर 'आगे सूखा वृक्ष है' इस वाक्य को संस्कृत में अनूदित करने को कहा। प्रथम पुत्र जो कि व्याकरण शास्त्र का निष्णात विद्वान् था इस प्रकार से अनुवाद करता है-'शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे' जबकि दूसरा पुत्र जो कि साहित्य-शास्त्र का मर्मज्ञ था; अपना उतर इस रूप में देता है-'नीरस तरुरिह विलसति पुरत:' महाकवि ने अविलम्ब अपने इस द्वितीय पुत्र को काव्य पूर्ण करने की आज्ञा दी और कालान्तर में वही पुत्र 'पुलिन्द भट्ट' के नाम से अपने पिता की कृति को पूर्ण करता हुआ अपने पिता सहित अपने आपको भी साहित्य-धरा पर अमर करता गया।

वस्तुत: मानव के चिन्तनीय अथवा अधीत विषय-वस्तुओं का प्रभाव उसके मन-मस्तिष्क, आत्मा अथवा स्वभाव पर ही नहीं पड़ता प्रत्युत उसके रहन-सहन, बोल-चाल बात-व्यवहार यहाँ तक कि चिन्तन-मनन तथा लेखन पर भी स्पष्टत: देखा जा सकता है। इस सन्दर्भ में वत्स भट्टी का रावणवधम्, माघ का शिशुपालवधम्, श्रीहर्ष का नैषधमहाकाव्यम् सहित ऐसे अनेक कवियों को सङ्केतित किया जा सकता है जिन्होंने अपने समष्टि रूप ज्ञान-सीमा को व्यष्टि रूप में विभक्त करना चाहा है उनकी रुचिकर अथवा कह लें विशिष्टरूपेण अधीत सामग्री उनकी वाणी तथा लेखनी के माध्यम से सहसा प्रतिस्फुटित हो चली है और आजन्म वे अपने इस विशिष्ट ज्ञान को किसी स्तर पर चाहे वह वाग्व्यवहार हो, स्वभाव अर्थात् व्यक्तित्व हो या फिर लेखन हो गुप्त नहीं रख सके हैं अत: सार्वजनीन हो चला है। तात्पर्य यह कि किसी न किसी रूप में उनकी वह प्रतिभा, उनका वह ज्ञान उनके कार्य-क्षेत्र में प्रकाशित हो चला है।

अस्तु, हिन्दी-साहित्य के यशस्वी लेखक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के कार्य-क्षेत्र में भी इसी प्रकार की कुछ संक्रान्ति देखी जा सकती है, जिन्हे बालपन से ही अपनी ज्ञान की झोली

संस्कृत-साहित्य के असंख अमूल्य रत्नों से भर लेने का निर्देश दिया गया और जब देश-काल-परिस्थितिवश अपने काल में सुदृढ़ स्थान बना चुके हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में वे कुछ कर दिखाने को उद्यत हुए तो अपनी ज्ञान की पोटली में संस्कृत-साहित्य के उन असंख्य रत्नों के सिवा और कुछ नहीं पाया। वस्तुत: तत्कालीन हिन्दी-साहित्य के विशाल पथ पर चलते हुए अपनी स्थिति बना पाने में यद्यपि ये अपने को असमर्थ पा रहे थे, तदपि अपने अधीत शास्त्र के बल पर हिन्दी-साहित्य के समूचे गगन में विचरण कर उसके अति रमणीय स्थलों को संस्कृत-साहित्य के मणि-रत्नों की आभा से आलोकित करते गए और उनका यह अभिनव प्रयोग हिन्दी-साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिख दिया गया।

इन्होंने हिन्दी रूपी युवती; जो कि कुछ ही समय पहले नवयौवन को प्राप्त हुई थी और अपने नायक अथवा कह लें भर्त्ता भारतेन्दु बाबू से बिछोह के कारण लगभग आधी शताब्दी से व्यथितमना हो बैठी थी, के आँचल को अपनी अधीत भाषा के अमूल्य रत्नों से कुछ यूं सजाया कि समूचा कवि-समाज इस युवती एवं इसे पुन: प्रफुल्लित करने वाले एक सर्वगुण सम्पन्न नायक को अपने विस्फारित नेत्रों से देखने लगा। अस्तु, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के कार्य-क्षेत्र की पीठिका उनके संस्कृत-साहित्य के गम्भीर चिन्तन, अध्ययन किंवा मनन रही है, इस तथ्य के सम्यक् अनुशीलन हेतु यहाँ हम उनके जीवनवृत्त, कृतियों और उन कृतियों में विवृत उनके संस्कृत-साहित्य के विशिष्ट ज्ञान का पर्यालोचन अपने इस आलेख के माध्यम से करना चाहेंगे।

जीवनवृत्त

द्विवेदी जी का जन्म १९ अगस्त सन् १९०७ को उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के 'आरत दूबे छपरा' (ओझवलिया) नामक ग्राम में हुआ था। आपके पिता का नाम अनमोल द्विवेदी तथा माता का नाम परमज्योति देवी था। आपके बचपन का नाम 'बैजनाथ द्विवेदी' था और साहित्य-रचना में कभी-कभी आप 'व्योमकेश शास्त्री' नाम भी प्रयुक्त किया करते थे। इनके प्रसिद्ध नाम के पीछे एक किंवदन्ती जुड़ी है कि एक समय इनके पिता को किसी मुकदमे में रुपयों की बड़ी आवश्यकता पड़ी और दैववशात अकस्मात कहीं से एक हजार रुपये की प्राप्ति हो गई। इस घटना से घर-परिवार तथा आस-पड़ोस के लोग इतने प्रसन्न हुए कि उन लोगों ने इनका नाम हजारीप्रसाद द्विवेदी रख दिया। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा बलिया जिले के प्राइमरी स्कूल 'रेपुरा' में हुई। आपने १९२० ई० में अपने चाचा की देखरेख में 'बसरिकापुर' मिडिल स्कूल से प्रथम श्रेणी में मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण की। वस्तुत: आपका परिवार प्रारम्भ से ही संस्कृतमय था, आपके वृद्ध प्रपितामह ज्योतिष-शास्त्र के उद्भट विद्वान् थे और चाचा संस्कृत-साहित्य के विशिष्ट मर्मज्ञ, अत: मिडिल पास करने के उपरान्त आपको इसी भाषा की सेवा के लिए नियुक्त कर

दिया गया और तभी से प्रारम्भ हो गई एक कुशल भृत्य द्वारा भगवती वाग्देवी की सेवा। सर्वप्रथम आप गाँव के समीप ही किसी 'पराशर ब्रह्मचर्याश्रम' में रहकर संस्कृत-साहित्य के अथाह समुद्र में तैरते उतरते रहे। विद्यालय के हेडमास्टर पण्डित महेन्द्र पाण्डेय जी की विशेष कृपा आप पर रहती थी। यद्यपि उस समय छपी पुस्तकें कम ही मिला करती थीं परन्तु गाँव में आर्य समाज को मान्यता देने वाले कुछ लोगों के कारण शास्त्रार्थ और विद्याध्ययन का वातावरण बना रहता था। गाँव में रहते हुए ही अपने गुरु पण्डित महेन्द्र पाण्डेय जी के निर्देशन में अनेकानेक उपनिषद तथा महाभारत की कई टीकाओं को आत्मसात कर लिया था। उसी अवस्था में आपने पण्डित तुलसीराम के दर्शनों के कई अनुवादों को पढ़ लिया था। तुलसी रामायण का आप नियमित पाठ किया करते थे।

आपकी ग्राहिका बुद्धि से प्रभावित हो आपके चाचा पण्डित बांकेबिहारी दूबे जो कि संस्कृत-साहित्य के सिद्ध विद्वान् तथा कुशल शास्त्रार्थी थे, लगभग १५-१६ वर्ष की अवस्था में आपको काशी ले आए और पूरी लघुसिद्धान्त कौमुदी कण्ठस्थ करा दी। संस्कृत-भाषा के प्रति आपकी रुचि देख चाचा ने आपका नाम रणवीर संस्कृत पाठशाला में लिखवा दिया, जहाँ से आपने सन् १९२३ में प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण की। उन दिनों प्रतिभावान् छात्रों को दी जाने वाली बिरला छात्रवृत्ति पुरस्कार भी आपको (१५ रुपए महीने) मिलती थी। पारिवारिक परम्परा से प्राप्त आपके ज्योतिष विषयक ज्ञान ने आपको अपनी ओर आकर्षित किया अत: आप इसी शास्त्र में रमे रहे और सन् १९२९ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से इसी विषय से शास्त्री तथा सन् १९३० में आचार्य की परीक्षा पास की।

आपके गुरु का नाम आचार्य रामयत्न ओझा था जो काशी स्थित तत्कालीन संस्कृत कालेज (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) में ज्योतिष-शास्त्र के विलक्षण विद्वान् थे। आपने १९४५ ई० के अपने एक पत्र के माध्यम से पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी को अपने गुरु से सम्बद्ध एक संस्मरण लिखते हुए कहा है कि–

'मैं काशी में ज्योतिष पढ़ता था। स्वर्गीय पण्डित रामयत्न ओझा मेरे गुरु थे। बड़े उदार और बड़े मस्तमौला। मुझे बहुत प्यार करते थे, वस्तुत: मैं कई बातों में उनसे मतभेद रखता था। शान्तिनिकेतन आने के बाद मैंने 'व्योमकेश शास्त्री' के नाम से एक लेख 'सनातन धर्म' में लिखा जो हिन्दू विश्वविद्यालय से निकलता था। गुरु जी ने मुझे इस प्रच्छन्न नाम से लिखने को मना किया था। इस लेख में मैंने अपने गुरु जी के ज्योतिष मत की आलोचना की थी अत: इसे गुप्त नाम से लिखा था। उन्हीं दिनों इन्दौर में 'ज्योतिष सम्मेलन' होने जा रहा था। मालवीय जी सभापति थे। उद्योक्ताओं को मेरा लेख पसन्द आया अत: मेरे प्रच्छन्न नाम से एक पत्र आया कि इस सम्मेलन की निर्णायक समिति में बंगला के प्रतिनिधि के रूप में आप चुने गये हैं। मैंने

उपस्थित होने में असमर्थता जताई, पर वे जिद ठाने रहे, लेकिन मैं वहाँ जाने का हिम्मत न कर सका, क्योंकि गुरु जी इस निर्णायक समिति के सामने अपने पक्ष की स्थापना करने वाले थे। यदि मैं जाता तो उनके मत का सर्वांश में तो नहीं; पर कई बातों में समर्थन करना कठिन जान पड़ता। सो, मैं नहीं गया। गुरु जी भी वहाँ नहीं जा सके। यह सारी कहानी गुरु जी को बाद में ज्ञात हुई। वे बहुत प्रसन्न हुए और मुझे डाँटते हुए कहे कि 'मैं तो उस दिन अपनी विद्या सफल मान लेता, जिस दिन तू मेरे मत की परीक्षा के लिए निर्णायक की गद्दी पर बैठता।' 'सर्वतो जयमिच्छेत पुत्रात् शिष्यात् पराजयम्।'

मालूम हो कि आप अपने वैयक्तिक संस्मरण 'मेरी पिटाई' शीर्षक में अपने किसी अध्यापक पण्डित रामनरेश मिश्र का स्मरण भी करते हैं तथा कहीं-कहीं तो स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर, विधुशेखर भट्टाचार्य एवं संस्कृत-साहित्य के विलक्षण विद्वान् क्षितिमोहन सेन को भी अपना गुरु बताते हैं, जिन्होंने इनकी अधीत भाषा को परिष्कृत करने का अनेकशः प्रयास किया।

यद्यपि इन्होंने अपनी प्रारम्भिक तथा उच्च-शिक्षा में संस्कृत-साहित्य को ही पढ़ा तथा काशी जैसे विद्या के केन्द्र और वहाँ भी महामना की संस्था से शिक्षा पाई, फिर भी आपके विशाल रचना-भण्डार में साक्षात् किसी स्वतंत्र संस्कृत-कृति का नामोल्लेख तक न पाया जाना बड़ा ही विचारणीय प्रश्न बन जाता है, किन्तु जब हम इनकी रचनाओं का सम्यक्तया अवगाहन करते हैं तो यह सहज ही अनुभूत करना पड़ता है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भले ही हिन्दी साहित्य के कुशल कृतिकार, उपन्यासकार, समीक्षक, गम्भीर शोधी तथा प्राचीनतम इतिहासवेत्ता के रूप में प्रसिद्ध हों लेकिन उन्हें एक उद्‌भट संस्कृत पण्डित, विलक्षण ज्योतिषी तथा कवियों में व्यास, कालिदास, बाण, श्रीहष, लक्षणकर्त्ताओं में भरत, वात्स्यायन, आनन्दवर्धन, धनञ्जय, रूपगोस्वामी, रूपककारों में शूद्रक, हर्षवर्धन, भट्टनारायण, गणित एवं ज्योतिषशास्त्र के वाराहमिहिर सहित सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय के विलक्षण अध्येता से अधिक और कुछ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इनका कार्य क्षेत्र भले ही हिन्दी-साहित्य का विशाल क्षेत्र हो मगर इस विशाल क्षेत्र में इन्होंने संस्कृत-साहित्य के बीज को ही वपित किया है।

परिवार की आर्थिक दशा अनुकूल न होने के कारण अंग्रेजी स्कूलों में आपका नियमित अध्ययन नहीं हो पाया था। फिर भी आपने अपनी उपलब्धियों द्वारा पैसों का संग्रह करके सन् १९२७ में अंग्रेजी की एडमिशन परीक्षा (हाईस्कूल) तथा सन् १९२९ में इण्टरमीडिएट की परीक्षा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से पास की। (वस्तुतः आचार्य द्विवेदी जी एक अच्छे कथावाचक थे परन्तु कथावाचन इन्होंने अपने जीवन में मात्र दो बार किया। प्रथम बार में प्राप्त ३५ रुपये से इन्होंने इण्टर की सीढ़ी चढ़ी और दूसरी बार आचार्य पास करने के बाद अपने परम स्नेही मित्र बब्बन सिंह के यहाँ कथावाचन किया था। इस बार इन्हें ९५ रुपये मिले थे)। दिल्ली

के सप्रू हाउस में भी आपने रामचरित मानस पर व्याख्यान दिया था। यद्यपि आपने अपने इस अंग्रेजी माध्यम की पढ़ाई को भी अनवरत जारी रखना चाहा और इस निमित्त आप सन् १९३२ में बी०ए० की परीक्षा में भी बैठना चाहते थे, किन्तु आँखों की अस्वस्थता के कारण नहीं बैठ सके। तत्कालीन परम्परा के अनुसार इनका विवाह भी मात्र बीस वर्ष की अवस्था में अर्थात् सन् १९२७ में भगवती देवी के साथ हुआ था।[१]

कृतियाँ

आचार्य द्विवेदी की कृतियों के सन्दर्भ में यहाँ हम बताते चलें कि आपकी जो रचनाएँ संस्कृत-साहित्य के विषय-विन्दुओं से पूर्णरूपेण संक्रमित हैं; विशेषतया यहाँ उन्हीं की चर्चा की जा रही है–

बाणभट्ट की आत्मकथा

द्विवेदी जी के इस उपन्यास में प्रायः वे सभी विशेषताएँ सहज रूपेण दृष्टिगत हो जाती हैं; जो संस्कृत-साहित्य के और विशेषतः बाणभट्ट के गद्यकाव्य में पायी जाती हैं। आचार्य द्विवेदी जी की इस कृति के निर्माण के पीछे निम्नलिखित दो उद्देश्य हो सकते हैं–प्रथम बाणभट्ट की शैली की विडम्बना प्रस्तुत करना और द्वितीय हिन्दी पाठकों को संस्कृत-साहित्य के विशेषतः बाणभट्ट के उज्ज्वल सौन्दर्य-बोध की समृद्ध अवगति देना। इनकी इस कृति को देख संस्कृत-भाषा के उद्भट्ट विद्वान् डॉ० शान्तिकुमार नानूराम व्यास भी एक बार इस भ्रम में पड़ गए कि कहीं यह बाणभट्ट की आत्मकथा का हिन्दी रूपान्तर तो नहीं। अस्तु द्विवेदी जी की इस कृति के विविध प्रसङ्ग निम्नवत् तुलनीय हैं–**प्रथम उच्छ्वास** के कथानकों से संस्कृत-साहित्य के निम्नांकित स्थल तुलनीय है–कादम्बरी कथामुख के विविध प्रसङ्ग। हर्षचरित प्रथम व **द्वितीय उच्छ्वास** तथा कादम्बरी के शुकनास के कथामुख के विविध प्रसङ्ग। **तृतीय उच्छ्वास** में प्राप्त सन्ध्या-वर्णन कादम्बरी कथामुख के सन्ध्या-वर्णन से तुलनीय है। यहीं पर एक प्रसङ्ग में द्विवेदी जी ने एक विशिष्ट प्रकार के उत्सव का उल्लेख किया है जो कि भवभूति विरचित मालती-माधव प्रकरण में वर्णित उत्सव से मेल खाता है। इस उच्छ्वास के तीन प्रसङ्ग रत्नावली नाटिका के प्रथमाङ्क से तुलनीय हैं। उपन्यास का एक अंश वात्स्यायन कृत कामसूत्र के नागरक गृह-वर्णन से तथा यहीं का एक वर्णन कादम्बरीस्थ महाश्वेता-वर्णन से अत्यधिक साम्य रखता है साथ ही मृच्छकटिक प्रकरण के तृतीय अङ्क का चतुर्थ श्लोक भी यहीं के एक भावभूमि को प्रस्तुत करता हुआ जान पड़ता है। **चतुर्थ उच्छ्वास** का एक पात्र कादम्बरी के जरदद्रविड़ से तुलनीय है। **षष्ठ उच्छ्वास** के अन्त-भाग में प्रस्तुत एक श्लोक नागानन्द नाटक का अन्तिम श्लोक ही है साथ ही हर्षचरित का चतुर्थ उच्छ्वास तथा यहीं के अष्टमोल्लास का कौवालिक निर्णय वाला प्रसङ्ग साक्षात् रूपेण दीख पड़ता है। **सप्तमोच्छ्वास** कथानक के इस भाग का

कुछ प्रसङ्ग रत्नावली प्रथम व द्वितीय अङ्क की कुछ विशिष्ट घटनाओं से तुलनीय होते हुए इस नाटिका के द्वितीय अङ्क के ३३वें पद्य के भाव को देखा जा सकता है साथ ही मेघदूत का 'गत्युत्कम्पा-दलकपिततैर्यत्र......सूच्यते कामिनीनाम्' (उत्तर-९) यह पद्य विशेषरूपेण तुलनीय है और इसी स्थल के कुछ अंश अभिलषितार्थ चिन्तामणि-३, महाभारत (शान्तिपर्व) २२९.१३ तथा चतुःशतक (८/१८) के भावों से ओतप्रोत जान पड़ते हैं। **अष्टमोच्छ्वास** का एक स्थल विक्रमोर्वशीयम के 'उदयगूढशशाङ्कमरीचिभिस्तमसि दूरतरं प्रतिसारिते.....(३.६) **दशमोच्छ्वास** के अन्त में प्रयुक्त द्विवेदी जी के वे दो श्लोक महाकवि बाणभट्ट के चण्डीशतक से ही लिए गए हैं और कुमारसम्भव के निम्नांकित श्लोक 'पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं.....(१.४४) के केन्द्रीय भाव को ग्रहण किया गया है। **एकादशोच्छ्वास** के एक विशेष स्थल की तुलना रत्नावली (२.४२) से की जा सकती है। **त्रयोदशोच्छ्वास** का एक प्रसङ्ग जहाँ वाराहमिहिर के वृहत्संहिता (७४.२) का स्मरण करा जाता है वहाँ भागवत (२.७.१४) के हृदयस्थ भाव हमारे मानसपटल पर तैर जाते हैं। **चतुर्दशोच्छ्वास** यहाँ का एक प्रसङ्ग कादम्बरी पूर्वभाग के राजसभा वर्णन से अवश्यमेव तुलनीय है। साथ ही रत्नावली का (१.२५) पद्य इसी उच्छ्वास की एक घटना से सुमेलित किया जा सकता है। रूपगोस्वामी कृत भक्तिरसामृतसिन्धु के एक पद्य का भाव तथा कुमारसम्भव के तीन पद्य (१.३२/३.६९ व ५.२५) द्विवेदी जी की इस कृति के इस भाग में विशेष उत्कर्ष को ज्ञापित कर रहे हैं। **सप्तदशोच्छ्वास** का एक स्थल कादम्बरी-कथामुख के पम्पासरोवर वर्णन का स्पष्टरूपेण स्मृति जगा जाता है। और इसी क्रम में इनकी रचना का **अष्टादशोच्छ्वास** किसी अज्ञात कवि के अनेक पद्यों के भावों को व्यक्त करता हुआ जान पड़ता है। कृति के इस भाग में भरतनाट्यशास्त्र के (३४.४६) निम्न स्थल का स्मरण विशेष उल्लेखनीय है और नागानन्द नाटक का निम्नांकित पद्य 'ध्यानव्याजमुपेत्य चिन्तयसि.....तथा कामेनाकृष्य चायं हतपटुपटहावल्गिभि.....अवश्यमेव तुलनीय हैं। इसी प्रकार मृच्छकटिकम् (५.१२) मेघदूत (आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र.....उत्तरमेघ) तथा रघुवंश के षोडश सर्ग के ११ से २१ तक के मूल भावों को इनकी इस कृति में अन्वेषित किया जा सकता है और इस तरह से इनकी इस कृति का बीसवाँ तथा अन्तिम उच्छ्वास भी रत्नावली नाटिका की प्रस्तावना एवं वहीं के सूत्रधार की उक्ति से संवलित किञ्च संक्रमित है।

चारुचन्द्रलेख

आचार्य द्विवेदी की इस रचना को भी उपन्यास की कोटि में ही परिगणित किया जाता है और इस उपन्यास में भी आद्यन्त ऐसे अनेकानेक स्थल इंगित किए जा सकते हैं जो संस्कृत साहित्य के विविध रत्नों से समलंकृत हो चमत्कृत हो उठे हैं। विस्तारभयात् यहाँ हम संस्कृत-

साहित्य के उन स्थल-विशेष को मात्र सङ्केतित कर देना उचित मानते हैं—भट्टनारायण कृत वेणीसंहार नाटक, वल्लभदेव कृत सुभाषितावली, सर्वदर्शनसंग्रह (पृष्ठ-२७४) प्राणतोषिणी में नारद पञ्चरात्र, अमरौघशासनम्, गोरक्षशतकम्, ताराभक्तिसुधार्णव-षष्ठ व सप्तम् तरङ्ग तथा वाराहमिहिर कृत वृहत्संहिता के अनेकानेक स्थलों से तुलनीय। इस उपन्यास के एक गौण प्रसङ्ग में इन्होंने कालिदास के काल के विषय में कहा है कि कालिदास शकारि विक्रमादित्य के समकालीन हैं। यद्यपि इसकी नायिका सर्वथा काल्पनिक पात्र ही बताई जाती है किन्तु इसके चरित्र-स्रोत को मेरुतुङ्ग के 'जैन-प्रबन्ध-चिन्तामणि' में अन्वेषित कर सकते हैं। संस्कृत के प्रकृति-प्रत्यय से निर्मित कुछ शब्द तो इनके प्रायः सभी उपन्यासों में देखे जा सकते हैं—यथा अत्रभवान्, तत्रभवान्, भद्र, अत्रभवती, तत्रभवती आदि। एक सभ्य समाज में प्रचलित अपशब्द यथा—दुर्विनीत, मिथ्याचारी, प्रपञ्ची, मिथ्यावादी, भुजङ्ग, तर्क-कुक्कुर तथा भिक्षा-जीवी जैसी संस्कृत गालियाँ दीख पड़ती है।[२]

पुनर्नवा

संस्कृत के विद्वान् इस उपन्यास के अनेक अनुच्छेदों को कालिदास के ग्रन्थों का अनुवाद मानते हैं परन्तु ऐतिहासिक आधार पर इस उपन्यास को परखना इसके साथ अन्याय करने जैसा होगा, क्योंकि द्विवेदी जी ने अपनी कल्पना से इस उपन्यास के प्रत्येक अंश को अलंकृत सा कर रखा है। इसे एक ऐतिहासिक उपन्यास की कोटि में परिगणित करना अनुचित सा जान पड़ता है। द्विवेदी जी की इस कृति का कथा-संसार लोरिक-चन्दा की प्रसिद्ध लोकगाथा, शूद्रक कृत 'मृच्छकटिकम्' की कथा और कालिदास की लोकविश्रुत जीवनी और साहित्य से निर्मित है। उपन्यास का उज्जयिनी का प्रसङ्ग तो मृच्छकटिकम् का अनुवाद सा जान पड़ता है। इसके प्रायः सभी पात्र तथा उनसे जुड़ी प्रायः सभी घटनाएँ साक्षात् रूपेण मृच्छकटिक के ही कहे जा सकते हैं।[३]

मेघदूत : एक पुरानी कहानी

द्विवेदी जी की इस रचना में कालिदास के ११५ पद्यों को १४० पृष्ठों में विस्तार दिया गया है। द्विवेदी जी का कहना है कि यद्यपि कहानी मूल पद्यगत भावों का तो अनुगमन करती है किन्तु यह टीका अथवा व्याख्या ग्रंथ नहीं है, क्योंकि लिखे गए अर्थों की पुष्टि के निमित्त अन्यान्य कई बातें और अनेकानेक प्रसङ्ग जोड़ दिए गए हैं। वस्तुतः अपनी इस कृति के द्वारा इन्होंने यक्ष के आत्मगत तथा बौद्धिक विचारों सहित उसके हृद्गत अनुभूतियों को शब्द रूप में पिरो देने की सफल चेष्टा की है। इस कहानी के माध्यम के द्विवेदी जी ने कालिदास के पद्यगत शब्दों को एक कुशल कारीगर की तरह तराशने का कार्य प्रारम्भ किया है। वस्तुतः आचार्य द्विवेदी कालिदास-साहित्य के ही नहीं प्रत्युत कालिदास द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द व प्रत्येक वर्ण के गम्भीर अध्येता

थे। हमारे उपर्युक्त मत की परिपुष्टि सन् १९७८ में शान्तिनिकेतन के हिन्दी भवन में दिए गए इनके व्याख्यान से सहज ही हो जाता है।

अनामदास का पोथा

यह बात स्वत: सिद्ध है कि उपनिषदों ने वेदों का और पुराणों ने वेदों और उपनिषदों का और फिर महाकाव्यों ने पुराणों, वेदों और उपनिषदों का दाय ग्रहण किया है। आचार्य द्विवेदी जी ने भी अपनी विवेक की चलनी का प्रयोग करते हुए पूर्ववर्ती साहित्य से काफी कुछ ग्रहण किया है। संस्कृत के अनेक पद्य इनके मन के भीतर पैठ जाने वाली भाषा में पुनरुत्पादित किए गए हैं। इनके समस्त उपन्यासों की कथाभूमि अतीत काल में, इतिहासकार 'प्राचीन भारत' की संज्ञा दे सकते हैं; अवस्थित है। इसमें 'अनामदास का पोथा' का कथा-काल औपनिषदिक युग है, जिसे इतिहासकार 'प्रागैतिहासिक काल' कहते हैं। इनके इस उपन्यास में अभिव्यक्त विभिन्न आध्यात्मिक विचार अनेकानेक उपनिषदों से विशेषकर वृहदारण्यक एवं छान्दोग्योपनिषद् से लिए गए हैं। द्विवेदी जी की इस कृति में आश्रमों के जीवन तथा लोक में होने वाले उत्सवों किञ्च समारोहों का प्रभावोत्पादक वर्णन सहसा दृष्टिगत हो जाता है। आचार्य द्विवेदी के परम स्नेहीजनों में एक शिवमङ्गल सिंह 'सुमन' कहते हैं कि 'ज्योतिष और व्याकरण का पण्डित इतना सरस और विदग्ध हो सकता है; यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं। वास्तव में डॉ० द्विवेदी के साथ एक आख्यान युग समाप्त हो गया। संस्कृत-साहित्य के पुराख्यान को हिन्दी की प्रकृति में ढाल देने सम्बन्धी इनका अभूतपूर्व प्रयोग पाश्चात्य उपन्यास कला से सर्वथा भिन्न तथा नितान्त पौर्वात्य और मौलिक है। जो इनके अगाध पाण्डित्य और वाग्वैभव से परिचित नहीं हो पाया उसके लिए यह कल्पना करना कठिन होगा कि हिन्दी में भी एक पतञ्जलि आया था जो बिना महाभाष्य लिखे ही चला गया।' सुमन जी ने अपने इसी लेख में इनके संस्कृत ज्ञान की मुक्तकण्ठ से महिमा गायी है और सिद्ध किया है कि इनका साहित्य-शास्त्र पर ही अधिकार नहीं था अपितु ब्रह्मसूत्र, प्रातिशाख्य, आरण्यक तथा उपनिषदों के आप गम्भीर अध्येता थे।[४]

साहित्य का साथी

आचार्य जी की यह कृति सन् १९४९ की है और इसे आठ अध्यायों में बाँटा गया है। वस्तुत: द्विवेदी जी ने इसकी रचना विद्यार्थियों को साहित्य के विभिन्न अंगों से परिचित कराने के लिए की थी। ग्रंथ के शीर्षक में प्रयुक्त साहित्य शब्द को तीन प्रकार से व्याख्यायित किया गया है–सूचनात्मक, विवेचनात्मक तथा रचनात्मक साहित्य। ग्रन्थ का चौथा अध्याय 'साहित्य के व्याकरण' शीर्षक के नाम से जाना जाता है, जिसमें अलङ्कार शब्द एवं अर्थ की शक्तियों, रस, गुण तथा दोष आदि का विशद् विवेचन किया गया है। इस अध्याय में द्विवेदी जी ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनि:' इस काव्य-लक्षण को मानों अंगुलि-निर्देश पूर्वक मनवाना चाहा है साथ

ही ध्वनि-तत्त्व की विलक्षणता, उसके प्रभेद, नवरस, विभावादि का सविस्तार विवेचन किया है। द्विवेदी जी की इस कृति को यदि हम साक्षात् लक्षण ग्रन्थ के नाम से अभिहित करें तो अत्युक्ति नहीं होगी क्योंकि इसके सम्पूर्ण आठ अध्यायों की विषय-वस्तु किसी लक्षण-ग्रन्थ से न्यून महत्त्व की नहीं है। अस्तु, इनके आठ अध्याय निम्नवत् हैं–साहित्य, साहित्यकार, राष्ट्रीय-साहित्य, साहित्य का व्याकरण, कविता, उपन्यास और कहानी, नाटक तथा आठवाँ अध्याय साहित्यिक आलोचना तथा निबन्ध के रूप में है।

सूर साहित्य

सात अध्यायों में विभक्त द्विवेदी जी का यह ग्रंथ सन् १९३४ का है जो कि इनके पुराण-साहित्य के अवगाहन को दर्शाता है। अपनी इस कृति के माध्यम से इन्होंने राधाकृष्ण के अस्तित्व विकास से सम्बद्ध सभी प्रश्नों का समाधान किया है। महाभारत, हरिवंश और वायु पुराणादि में राधा का उल्लेख न मिलने तथा किसी आर्य पूर्व जाति की प्रेम देवी के रूप में विकसित इनको कालान्तर में श्रीकृष्ण के साथ सम्पृक्त कर दिया गया, आदि पर गम्भीर अनुसन्धानात्मक विवरण उपलब्ध कराया गया है।

कबीर

सन् १९४१ में रचित उपसंहार सहित सोलह अध्यायों में विभक्त आचार्य द्विवेदी का यह शोध-ग्रंथ कवि के व्यक्तित्व, कर्तृत्व किञ्च उनके दार्शनिक विचारों की आलोचना करता है। ३७० पृष्ठों के परिमाण वाला इनका यह विशालकाय ग्रन्थ भी संस्कृत-साहित्य से सम्पृक्त हुए बिना नहीं रह सका है। फलतः ग्रंथस्थ चतुर्थ अध्याय हठयोग की साधना व हठयोग क्या है? आदि पर गम्भीर चर्चा प्रस्तुत करता है साथ ही उन्मुनि, कैलास, इङ्गला, पिङ्गला, सुषुम्ना, नाद, स्फोट और षट्कर्म आदि पर विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करता है।

मध्यकालीन धर्म साधना

सन् १९५२ में रचित इस ग्रंथ को हम संग्रह-ग्रंथ के अभिधान से अभिहित कर सकते हैं, जिसमें इनके ३९ निबन्ध सङ्कलित हैं। २७८ पृष्ठों के परिमाण वाले इसके अधिकांश निबन्ध तान्त्रिक, पञ्चरात्र, वैष्णव, पाशुपत, शैव, कापालिक, जैन, नाथसिद्ध तथा निरञ्जन आदि सम्प्रदायों के मत-वाद-सिद्धान्तों को स्पष्ट करते हैं। लगभग दस निबन्ध ऐसे हैं, जिसमें राधाकृष्ण की लीलाओं, भक्ति, लीला-रहस्य, राधा के स्वरूप, गीतगोविन्द की विरहिणी राधा आदि से सम्बद्ध हैं। तथा अन्त के कुछेक निबन्ध गुणमय-उपासना, रूपोपासना तथा ब्रह्म के स्वरूप विवेचनक जान पड़ते हैं।

नाथ सम्प्रदाय

सन् १९५० की यह रचना उपसंहार सहित १५ अध्यायों के २११ पृष्ठों में विभक्त है,

जिसके अन्तर्गत विभिन्न सम्प्रदायों में प्रसिद्ध व प्रचलित अलौकिक कथानकों एवं अनेक ग्रन्थों के गंभीर अध्ययन के पश्चात् नाथ सम्प्रदाय का प्रथम प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया गया है। ग्रंथ का ८ से १२वाँ अध्याय अपने आप में विलक्षण है, जिसमें पिण्ड, ब्रह्माण्ड, पातञ्जल-योग, इस शास्त्र की प्राचीनता तथा सहज समाधि के नियम-निर्देशों पर विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।

हिन्दी-साहित्य का आदिकाल

द्विवेदी जी ने अपने इस ग्रन्थ के माध्यम से हिन्दी-साहित्य के आदिकाल पर शोधपूर्ण प्रकाश डालने की सफल चेष्टा की है और हिन्दी-साहित्य के विस्मृत क्षेत्रों तथा विवादित तथ्यों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। सन् १९५२ में लिखित उनकी यह कृति हिन्दी के आदिकाल से सम्बद्ध समस्त शंका-कुशंकाओं और मत-मतान्तरों पर अपनी सम्मति द्वारा उन्हें शमित करने का सफल प्रयास करती है। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के तत्वावधान में दिए गए पाँच व्याख्यानों के संग्रह वाला यह ग्रन्थ अपने अन्तिम व्याख्यान के माध्यम से छन्दःशास्त्र के इतिवृत्त को व्याख्यायित करता है, जिसमें श्लोक, गाथा और दोहा को क्रमशः संस्कृत प्राकृत एवं अपभ्रंश का प्रतीक बताया गया है। शार्दूलविक्रीडित तथा साटक नामक छन्द के ऐक्य निरूपण के गम्भीर विवेचन को हृदयस्थ कर लेने के उपरान्त हम इनकी खोजी दृष्टि का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं।

हिन्दी-साहित्य की भूमिका

उपसंहार सहित ३०२ पृष्ठों व दस अध्यायों में विभक्त द्विवेदी जी की यह कृति सन् १९४० की है। ग्रंथ से कहीं अधिक इसके विशालकाय परिशिष्ट वैदिक-साहित्य सहित बौद्ध एवं जैन-साहित्य का गम्भीर विवेचन प्रस्तुत करते हैं। वस्तुतः ग्रंथ का परिशिष्ट भी अपने आठ अध्यायों सहित इस ग्रन्थ में विद्यमान है, जिसमें संस्कृत-साहित्य का परिचय, महाभारत क्या है। रामायण और पुराण, बौद्ध-साहित्य, बौद्ध-संस्कृत-साहित्य, जैन-साहित्य तथा कवि-प्रसिद्धियों का वर्णन किया गया है।

अशोक के फूल

इस संग्रह के २०८ पृष्ठों में इक्कीस निबन्ध सङ्कलित हैं, जिनमें संस्मरणात्मक, चिन्तनात्मक, अनुसंधानात्मक, सांस्कृतिक, ज्योतिष-शास्त्रीय तथा कुछ वैयक्तिक प्रकृति के निबन्ध भी सम्मिलित हैं। इन निबन्धों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक अपने सामाजिक, सांस्कृतिक और इतिहास सम्बन्धी जिज्ञासाओं को ही अनेक रूपों में उपस्थित करना चाहता है।

विचार और वितर्क

यद्यपि अट्ठाईस निबन्धों का यह संग्रह भिन्न-भिन्न विषय-विन्दुओं से सम्बद्ध जान पड़ता

है, किन्तु इस सङ्कलन के प्राय: निबन्धों का केन्द्रीय विषय-विन्दु साहित्य-शास्त्र है। संस्कृत-भाषा और उससे सम्बद्ध अन्यान्य भारतीय-साहित्य पर गम्भीर चर्चा करने वाले इस सङ्कलन के प्राय: निबन्ध विवेचनात्मक किञ्च शोधपूर्ण हैं। इस सङ्कलन के कुछ आलेख यथा–मधुर-रस की साधना, साहित्य का प्रयोजन, साहित्य की नई मान्यताएँ, हिन्दू संस्कृति और साहित्य का सम्बन्ध तथा साहित्य के मूल्य आदि अति महत्त्वपूर्ण आलेख हैं।

विचार-प्रवाह

आचार्य द्विवेदी जी ने अपने इस संग्रह में विभिन्न कालों में लिखे गए आलेखों और भाषणों को सङ्कलित कर दिया है। १९५९ ई० के इस निबन्ध संग्रह में समस्त आलेखों व भाषणों की संख्या इक्कीस है जो मुख्यरूपेण साहित्य एवं शोध-विन्दुओं से सम्बन्ध रखते हैं। पुरानी बातों को नूतनातिनूतन ढंग से कह जाने में पटु आचार्य द्विवेदी जी के ये प्राय: निबन्ध संस्कृत-साहित्य के पूर्ण वैभव, लोक-जीवन की समूची सरसता एवं भावाभिव्यक्ति की अमूर्त क्षमता से आश्लिष्ट हैं।

हमारी साहित्यिक-समस्याएँ

प्रस्तुत सङ्कलन आचार्य द्विवेदी के बारह साहित्यिक एवं समीक्षात्मक निबन्धों का संग्रह है, जो कि अपने विशाल परिमाण के कारण २२७ पृष्ठों को संक्रान्त करता है। १९४९ ई० के इस सङ्कलन के प्रथम निबन्ध का शीर्षक है–'संस्कृत और हिन्दी'। इसमें आचार्य द्विवेदी जी बताते हैं कि 'पुराने जमाने में आसेतु हिमालय एक संस्कृत भाषा ही थी पर अब वह भाषा नहीं है, लेकिन हिन्दी उस भाषा का काम कर सकती है।' 'कविता का भविष्य' इस शीर्षक वाला एक निबन्ध अपने आप में महत्त्वपूर्ण स्थान का भागी है। इस सङ्कलन के विभिन्न निबन्ध यथा–साहित्यिक दृष्टिकोण, साहित्य निर्माण का लक्ष्य तथा भारतीय साहित्य की प्राणशक्ति आदि के माध्यम से प्राचीन साहित्य पर ही विचार प्रस्तुत किया गया है। इसी सङ्कलन के निम्न दो शीर्षक 'रस का व्यावहारिक अर्थ' एवं 'रस क्या है।' प्राचीन आचार्यों की रस के प्रति विशेष दृष्टि को सुस्पष्ट करता है। इस प्रसङ्ग में आचार्य आनन्दवर्धन के रस विषयक मन्तव्यों पर गम्भीर किञ्च सारगर्भित विवेचना प्रस्तुत की गई है। 'साहित्य का नया रास्ता' इस सङ्कलन का सर्वोत्कृष्ट निबन्ध माना जा सकता है।

कल्पलता

बीस निबन्धों का यह संग्रह १९६५ ई० का है, जो परिमाण में १८४ पृष्ठों तक विस्तृत है। इस सङ्कलन के दो निबन्ध भारतीय ज्योतिष-शास्त्र पर गम्भीर मीमांसा प्रस्तुत करते हैं। 'आम फिर बौरा गए' शीर्षक निबन्ध संस्कृत-साहित्य के अनेक विषय-विन्दुओं को अपने में समाहित

किए हुए हैं। इस अति लघुकाय निबन्ध में संस्कृत-साहित्य से सम्बद्ध ऐसे बीसों स्थल इङ्गित किए जा सकते हैं जो पूर्णतः इसी साहित्य के अनुसन्धेय स्थल हैं जैसे यातु और जादू शब्द एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न रूप हैं। खुदा शब्द स्वधा का भाई है। नमाज शब्द संस्कृत के नमस् शब्द का सगा भाई है। कन्दर्प और गन्धर्व में केवल उच्चारण भेद है, आदि।[५] इसी प्रकार इस संग्रह के अन्यान्य निबन्ध यथा–'मनुष्य की सर्वोत्तम कृति : साहित्य' एवं 'साहित्य का नया कदम' अपने आप में महत्त्वपूर्ण हैं।

साहित्य का मर्म

प्रस्तुत सङ्कलन ग्रंथ द्विवेदी जी द्वारा लखनऊ वि०वि० में दिए गए तीन व्याख्यानों का संग्रह है, जो कि ७८ पृष्ठों में विवेचित है और जिसे आपने १९५० में इस सङ्कलन का रूप दिया। इसमें साहित्य शब्द के अर्थ, इस शब्द के प्रथम प्रयोक्ता आचार्य कुन्तक, साहित्य के दो पक्ष, संस्कृत-साहित्य के पूर्ववर्ती स्वरूप की मार्मिकता का विशद् वर्णन, सत्काव्य की पहचान आदि पर गम्भीर चर्चा की गई है।

कुटज

इस ग्रन्थ में भी द्विवेदी जी के उत्कृष्ट निबन्धों को सङ्कलित किया गया है। स्वयं कुटज शीर्षक का आलेख जो कि एक वृक्षविशेष मात्र का बोध कराता है; में इस शब्द का व्याकरणिक तथा साहित्यिक दृष्टि से गम्भीर निर्वचन किया गया है और संस्कृत-साहित्य में इसकी प्रसक्ति, गति किञ्च स्थिति को मानो चुन-चुनकर स्पष्ट किया है। याज्ञवल्क्य, व्यास तथा महाकवि कालिदास की सूक्ति रूपी रत्न से ओतप्रोत इनका यह आलेख अपने आप में अनूठा है। सङ्कलन का तृतीय लेख 'साहित्य में हिमालय की परम्परा' कालिदास-साहित्य से सम्बद्ध हिमालय के सन्दर्भों को संकेतित करता है और इसी क्रम में 'जीवेम शरदः शतम्' शीर्षक इस सङ्कलन का सर्वोत्कृष्ट आलेख माना जा सकता है, जिसमें वेद के अमूल्य मन्त्र-रत्नों सहित महर्षि व्यास के अनेकानेक मन्तव्यों को यथा प्रसङ्ग समुचित स्थान दिया गया है। इस सङ्कलन का उपसंहार यद्यपि हिन्दी-साहित्य में प्रयुक्त शब्दों के अर्थभेद की समस्या तथा लेखन-शैली से सम्बद्ध है, किन्तु इस समस्या-समाधान के निमित्त इन्होंने मानो पाणिनि और पतञ्जलि को साक्षात् बुला लिया है। सङ्कलन के अन्यान्य निबन्ध यथा–'देवदारु' 'मानव-धर्म' 'भारत की ऐक्य-साधना' 'धार्मिक विप्लव और शास्त्र' 'आत्मदान का संदेशवाहक–वसन्त' तथा 'भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत–वेद' इनके संस्कृत-साहित्य-शास्त्र पर गम्भीर अधिकार को अनायास ही बता जाते हैं।[६]

प्राचीन भारत का कलात्मक विलास

इस ग्रन्थ में प्राचीन संस्कृत-ग्रंथों, नाटकों, उपाख्यानों, स्मृति, उपनिषद् और सभी वेदों

का आधार लेकर साधारण जनता के नित्य-नैमित्ति कार्यों, उत्सवों तथा कुछ विशिष्ट अवसरों का ऐसा सुन्दर वर्णन किया गया है कि आँखों के सामने मानो वे दृश्य साक्षात् झलक पड़ते हैं। इस कृति में जीवन, कला तथा स्थापत्य से सम्बद्ध लगभग पचास विषय-विन्दुओं की विशद् चर्चा की गई है। यहीं पर काव्य-शास्त्रविनोद, काव्य-कला तथा विद्वत्सभा आदि विषयों का रोचक वर्णन प्राप्त होता है। रङ्गशाला, नाटक, सङ्गीत, मदनोत्सव तथा उद्यान-यात्रा सहित उस काल की गणिकाओं की विशिष्टता और समाज में उनके महत्त्व का उत्कृष्ट वर्णन भी प्राप्त होता है।

प्राचीन भारत के कलात्मक-विनोद

द्विवेदी जी अपने इस ग्रन्थ की भूमिका में लिखते हैं कि 'यह पुस्तक मेरी पुरानी पुस्तक 'प्राचीन भारत का कलाविलास' का परिवर्तित और परिवर्धित रूप है। उस पुरानी पुस्तक में कुछ अशुद्धियाँ थीं, जिसे समाप्त कर अधिकांश नये विषयों को इसमें सम्पृक्त किया गया है।' वस्तुतः इसकी नूतनता इस दृष्टि से भी जान पड़ती है कि इसमें कुछ प्राचीन चित्रों की प्रतिलिपि दे दी गई है, जो वक्तव्य को ठीक-ठीक समझने में सहायक सिद्ध होती हैं। पुरानी पुस्तक के तिरपन विषयों को संशोधन के साथ प्रस्तुत करते हुए इसमें अन्यान्य छत्तीस विषय-विन्दुओं की वृद्धि कर दी गई है।

मूल संस्कृत कृतियाँ

आचार्य द्विवेदी की उपर्युक्त विवेचित कृतियों के आलोक में हमारी बुद्धि कथमपि यह स्वीकार करने को तत्पर नहीं होती कि इन्होंने संस्कृत-साहित्य से सम्बद्ध कोई वृहद् काव्य-नाटकादि ग्रन्थ नहीं लिखा। परन्तु शायद यह सत्य है कि आपने इस साहित्य पर कोई स्वतन्त्र कार्य नहीं किया। उपलब्ध कार्य निम्नवत् हैं–

मन्द-माहात्म्यम्

रवीन्द्रनाथ जी को केन्द्रित कर द्विवेदी जी ने यह कविता सन् १९३२ में लिखी थी, जो शान्तिनिकेतन की हस्तलिखित पत्रिका 'रवीन्द्र-परिचय-पत्रिका' के शारदीय अङ्क में प्रकाशित भी हुई थी। इसका अनुवाद पण्डित निताइ विनोद गोस्वामी ने किया था। पद्य निम्नवत् है–

सम्वृतं हि बुधैस्तथा च कविभिर् दीप्तैस्तवज्योतिषा
सांख्यज्ञानप्रकाशकक्षितिविधु-भ्यांचापि युक्तमन्विदम्।
नानाशास्त्रविचक्षनैश्च गुरुभीरक्तैस्तथा विद्-वरेर
ज्योतिश्चक्रमिदमखिलम् तव रवे मन्दो न चेत् स्यामहम्।।[७]

दार्ढ़ीं प्रगाढ़ीं भजे

दिल्ली से प्रकाशित होने वाली मासिक पत्रिका 'आजकल' के सम्पादक रह चुके

साहित्यकार देवेन्द्र सत्यार्थी की लोकगीत-खोज यात्रा से द्विवेदी जी इतने अभिभूत थे कि उन्होंने उनके व्यक्तित्व पर एक लोकगीतनुमा कविता ही रच डाली। इसके अलावा वे सत्यार्थी जी से इतने प्रभावित हुए कि इनकी बहुचर्चित 'दाढ़ी' पर मुग्ध हो इसकी वन्दना करते हुए निम्न पद्य रच डाले–

जीर्णाशीर्णा वट प्ररोह जटिलां कृष्णां तमाल प्रभाम्
तां मोहम्मद धर्म साधरपरां 'देवेन्द्रता' दायिनीम्
'सिक्खत्वं' च गुरुत्वमप्यधिगतां रामामनोहारिणीम्
ग्रामग्रामविहारी नगर नटीं दाढ़ीं प्रगाढ़ीं भजे।[८]

स्वतन्त्र कविताएँ

क्वचिद्राज्यलाभात् क्वचिद्वल्कलाञ्च, क्वचित् प्रेयसी स्निग्ध दृग्वाणपातैः।
यतः प्राप्यते मानुषैरात्मतोषस्ततो नाहभावाहयाम्यर्थचिन्ताम्।
उदयगिरि निकूटादुद्भवस्ताम्रकान्तिः प्रतपति दिशि दिश्यङ्गार धारां प्रवर्धन्
स च निखिल वसूनां प्राणदाता विवस्वान् यदि पतति दिनान्ते के वयं क्व स्थिरत्वम्!!
अमृतकिरणवर्षैः सेचयन्नौषधानि प्रथित मधुरकान्तिः मूर्तशान्तिः सुधात्मा
विधिगुण परिपाकात् सोपि विभ्रंशतश्चेत् उपशमित विरोधा एव के वीतविघ्नः!

प्रेमचन्द प्रशस्ति

भञ्जन्मोह महान्धकार वसतिं सदवृत्तमुच्चैर्भजन्
वैदग्ध्यं प्रथयन् सुसज्जनमनो वारान्निधिंह्लादयन्।
ध्वान्तोद्भ्रान्तजनान् दिशन्ननुदिशंध्वान्तप्रियान् शोभयन्।
चन्द्रः कोऽपि चकास्त्यसा व विनवः श्री प्रेमचन्द्रः सुधीः।।
प्रेमचन्द्रश्च चन्द्रश्च न कदापि समावुभौ,
एकः पूर्णकलो नित्यमपरस्तु यदा कदा।

वन्दे मोटी तोन्दमुदारम्

द्रविण-पाक-दक्षिणं, समार्जित व्यवस्थासारम्।
लोकविचार चारुचर्वनकरममित नीतिविस्तारम्।
जनपरिवादाधान कर्म्मसुनिपुण मञ्जूषाकारम्।
विफल वितण्डावाद जल्पना मिथ्यावादपिटारम्।

विद्वज्जन गर्जन श्रवणजम् धुकुड़पुकुड़म् स्वमनुकारम्।
मूर्खमण्डलीमध्य समर्पितकरमति बुद्धि बघारम्।
सकल पुराणशास्त्रमधरीकृतमविहतस्थौल्याकारम्।

करुण-गानम्– (पन्त जी की तीन कविताओं का संस्कृत श्लोकान्तरण)–

१. अहो मदीया किल कीदृशीयं गीतिः सदार्द्रा हृदयादुचेति।
अस्याश्युतेऽपि प्रतिविन्दुमध्ये दाहः सदा वाऽवजोऽभ्युदेति।
वर्णाः समस्ताय्युरसः प्रकम्पाः, शब्दाश्च सर्वे समृतिदंशभूताः।
पादास्तथोच्छ्वासमया भवन्ति, कणः कथायाः करुणाम्बुराशिः।

मूल– आह! यह मेरा गीला गान; .... बूँद में है वाड़व का दाह!

२. पीड़ा सदा तिष्ठति कल्पनायां चक्षुर्जले रोदनसिक्तगानम् -
शून्ये समुच्छ्वास उदीर्यमाणे तिष्ठयहो! सस्वर - पद्यबन्धः।
अवश्यमासीत् स कविर्वियोगी आद्यो पदुच्छ्वासज एष गीतः
अभूल्लयो वै मधुरोऽप्यनन्तो भवेदनन्ता खलु माधुरीहि।

मूल– शाप है अथवा यह वरदान? .... आह से निकले होंगे (?) गान!

३. त्यक्ता द्रुमाणाहि मञ्जुलाभाम् विहाय मायां प्रकृतेरुदाम्
बालेसुजाले तव कुन्तलानां कथं प्रबन्धामि विलोचने मे?

मूल– छोड़ द्रुमो की यह छाया, ... बाले, तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?

(पन्त जी की पाँच कविताओं का संस्कृत श्लोकान्तरण)–

१. प्राणेषु प्रतिगृह्य मार्दवरसं चादाय हासं तथा,
स्निग्धीभूतहृदोनिशोऽप्यनुपमं मुग्धर्त्तकानां स्मितम्।
उच्छ्वासं खलु पारिजातजमथैतस्मिन् जगत्यागतो-
हे सारल्यमय-प्रसून! मृदुता-प्राण! त्वमाज्ञानतः।

मूल– प्राण में कोमलता का सार .... सरल हे छोटे कोमल प्राण!

२. ऐश्वर्य्योऽह्ययमद्भुतस्तरुणिमायाः, सुन्दरीयं तनुः।
आच्छाद्याननमद्य पल्लवपटेनैतेन नूलेन वै।
अस्पृष्टं मकरन्दराशिमभितश्वादाय कस्मात्कुतः -
स्वः सन्देश हर! त्वमत्र पुलिने प्राप्तोऽसि हे पुष्पकः!

मूल– निराला यौवन का ऐश्वर्य .... स्वर्ग के हे मोहक सन्देश!

३. एतन्मुग्धनिमीलितार्धनयनं यस्मिन् प्रगुप्तस्तव,
सर्वस्वं सुरभेर्निधिस्तदपि वै पात्रं मधोरुच्छलत्।
एकाक्यत्र समागतोऽसि सुमनो वाल! स्मितानन्दित!
जानेऽज्ञानपराक्रमात् खलु पथभ्रान्तोऽसि शोभा निधे!

मूल– मुग्ध-से अर्धोन्मीलित नयन, ... मञ्जु छोटे मुसुकाते फूल!

४. एते ये भ्रमरा: समुत्सुकतया पश्यन्ति ते सर्वार्थिन:।
योऽयं वा मलयानिल: प्रवहति श्वासो विषस्तस्य च।
शृङ्गार: क्षणिकस्तवायमभित: स्वप्नं स्मितं चौषिकम्।
नो जानासि सखे! हसस्यपि तथा? कष्टं स्वरूपोन्मद:!

मूल– विकल भौंरों की झूठी चाह .... सखे! यह कैसा रूपोन्माद!

५. राजेणासि विमोहनेन सुकुमार, त्वं समाकर्षित:?
केनप्रेषितकोऽसि वाऽत्र पुलिने? कोऽयंविधिनिर्दय:?
प्राणा: हा प्रभवन्ति तात! मलिना माधुर्य-मूर्ते तव।
त्वं हे मुग्धविलोकनासि सुमनो मौग्ध्यसामुग्धं जगत्!

मूल– कौन वह है सम्मोहन राग .... मधुर भोलेपन के संसार?[९]

संस्कृत कृतित्व के अन्य विविध आयाम

यद्यपि साहित्याचार्य के रूप में इन्हें दुनियाँ जानती है, लेकिन ये एक अद्भुत ज्योतिष भी थे, इसे कम लोग जानते हैं। इन्हें ज्योतिष-विद्या अपनी पैतृक परम्परा से ही नहीं मिली, प्रत्युत इस शास्त्र में इन्होंने शास्त्री एवं आचार्य परीक्षाएँ भी उत्तीर्ण की हैं। विदित हो कि इनकी ग्रन्थावली जो कि ११ भागों में प्रकाशित है, उसको द्विवेदी जी के विविध साहित्य के रूप में सङ्कलित किया गया है। इस भाग में इनके अन्यान्य अनेकों कार्यों को एकत्रित कर दिया गया है, जिसमें इनके फलित-ज्योतिष विषयक मत-मतान्तरों को पृष्ठ संख्या १५१ से १९४ पर्यन्त देखा जा सकता है। ग्रन्थावली के इस भाग में ज्योतिष-शास्त्र विषयक इनके मत को इन शीर्षकों के अन्तर्गत देखा जा सकता है–ज्योतिषशास्त्र का सामान्य परिचय–१. पञ्चाङ्ग का सामान्य परिचय, २. मुहूर्त-प्रकरण, ३.विवाह-प्रकरण, ४. यात्रा-प्रकरण, ५. वास्तु-प्रकरण, ६. विंशोत्तरी दशा प्रकरण आदि।

ग्रन्थावली के इसी भाग में पृष्ठ संख्या ३६७ से ४२२ पर्यन्त साहित्य-शास्त्र से सम्बद्ध

विविध पक्षों पर एक लम्बा-चौड़ा प्रकरण उपलब्ध होता है। यथा—१. भरत सूत्र के व्याख्याता, २. लोल्लट आदि आचार्य, ३.ध्वनि-सम्प्रदाय, ४. ध्वनि का प्रादूर्भाव कैसे हुआ, ५. शब्द-वृत्तियाँ, ६. ध्वनि या व्यङ्ग्यार्थ, ७. ध्वनि विरोधी, ८.रीति, ९. गुण, १०. दोष, ११. काव्य-भेद, १२. अलङ्कार, १३. रस तथा भाव आदि। आचार्य द्विवेदी अपनी ग्रन्थावली के इस अंश की भूमिका में कहते हैं कि "यह अंश सन् १९३०-३१ में लिखा हुआ अंश है। मैंने उन दिनों साहित्य-शास्त्र की एक पुस्तक लिखने का सङ्कल्प किया था।"

डॉ० नगेन्द्र अपने संस्मरण में कहते हैं कि 'आचार्य क्षितिमोहन सेन के निकट सम्पर्क के कारण द्विवेदीजी मर्मी कवियों के साहित्य के गहन गह्वर में प्रवेश करते गए और वही उनका शोध-क्षेत्र बन गया।' डॉ० उपेन्द्र कुमार दास ने कहा है कि "पण्डित जी जिस विद्या का अर्जन कर शान्तिनिकेतन आए थे, वह ठोस विद्या थी। संस्कृत उन्होंने बहुत अच्छी तरह से सीखी थी। ज्योतिष-शास्त्र का अध्ययन भी अच्छे गुरु के साथ किया था। इस शास्त्र पर इनका पूर्ण अधिकार था। किन्तु शान्तिनिकेतन आने के बाद उन्होंने इस शास्त्र की चर्चा धीरे-धीरे लगभग छोड़ ही दी थी। कभी-कभी बन्धु-बान्धवों के अनुरोध पर जन्मपत्रिकादि तैयार कर दिया करते थे।" यहीं पर वे कहते हैं कि "पण्डित जी ज्योतिष-शास्त्रज्ञ हैं; ऐसा सुनकर गुरुदेव की इच्छा हुई कि उनसे एक विशुद्ध पञ्जिका तैयार करवाई जाय, किन्तु इस कार्य की ओर से पण्डित जी का उत्साह ठण्डा पड़ चुका था, इसलिए अन्त तक यह कार्य पूरा नहीं हो सका, लेकिन उन्होंने 'भारती-संसद' नाम्नी पत्रिका में 'पञ्चाङ्ग' शीर्षक से तीन विस्तृत व्याख्यान दिए। भारती-संसद के प्रथम सम्पादक स्वयं पण्डित जी और संस्कृत के अध्यापक नगेन्द्रनाथ चक्रवर्ती जी थे। इस पत्रिका का प्रतिवेदन संस्कृत में ही लिखा जाता था। एक बार भारती संसद की सभा में विद्याभवन के तत्कालीन अध्यापक मौलाना आदामुद्दीन साहब ने हदीस पर एक प्रबन्ध पाठ किया। पण्डित जी ने इस सम्बन्ध में मन्दाक्रान्ता छन्द में संस्कृत में एक बड़ी अच्छी कविता लिखी, जिसमें मौलाना साहब के व्यक्तित्व का जीवन्त चित्रण हुआ था।" दिल्ली की एक लेखिका सत्यवती मलिक अपने संस्मरण में लिखती हैं कि "द्विवेदी जी प्रत्येक विशेष अवसरों पर जो निमन्त्रण पत्र भेजा करते थे वे संस्कृत के विविध श्लोकों से मण्डित हुआ करते थे।" सत्यवती मलिक को लिखे गए पत्र में द्विवेदी जी ने किसी प्रसङ्ग में कहा है कि "उपनिषदों के आधार पर 'अनामदास का पोथा' लिखा है, देखिएगा।" वस्तुतः आचार्य द्विवेदी जी संस्कृत-साहित्य के विलक्षण विद्वान् होने के साथ-साथ आशुकवि भी थे और संस्कृत पद्य-रचना में बड़े निपुण थे। सन् १९५५ में गठित राजभाषा आयोग के अन्य सदस्यों में श्री बी० जी० खेर इस आयोग के सभापति थे। अवसर के अनुकूल श्री खेर का नाम अन्तर्भुक्त करके इन्होंने संस्कृत में एक उत्कृष्ट पद्य रचकर सभी के समक्ष सुनाया था।[१०]

वस्तुतः इस लघु आलेख में आचार्य द्विवेदी जी के समस्त संस्कृत-कृतित्व की चर्चा करने में हम अपने को असमर्थ पाते हैं अतः इनके परिनिष्ठित संस्कृत-पाण्डित्य तथा संस्कृत-काव्यशास्त्र में इनकी विशेष पहुँच की जिज्ञासा रखने वाले पाठकों से विनम्र निवेदन करते हैं कि वे उनकी कृतियों के निम्नाङ्कित स्थलों को आवश्यकतानुकूल प्रयोजनों हेतु अवश्य देखें–

काव्य-प्रयोजन एवं काव्य-हेतु–साहित्य का मर्म; पृष्ठ–(९-११/३८-४०), सूर साहित्य; पृष्ठ–(१४७-४९/१६२), काव्य-स्वरूप–नाटक के लिए देखें; साहित्य का मर्म; पृष्ठ–(३१), कहानी के लिए देखें; कल्पलता - पृष्ठ–(८२), हिन्दी-साहित्य; पृष्ठ–(४२६), उपन्यास के लिए देखें; साहित्य का मर्म; पृष्ठ–(६३-६४), छन्द-निरूपण–इसके लिए देखें; साहित्य का मर्म; पृष्ठ–(१६-१७/४१/४६/) अलङ्कार-विवेचन हेतु–साहित्य का मर्म; पृष्ठ–(२६), हिन्दी-साहित्य; पृष्ठ–(३३१), प्राचीन साहित्य सम्बन्धी समीक्षा के लिए देखें–विचार प्रवाह; पृष्ठ–(३/५//६/८/१०-१३/८२/९०/२२१), अशोक के फूल; पृष्ठ–(९५/९८/१०१/१५७/१६६/१७०-७२/१७६/१८४/२०४), साहित्य का मर्मः पृष्ठ–(५२/७०), कल्पलता; पृष्ठ–(१३५/१३७/१३९/१४०-४२/१४४), विचार और वितर्क; पृष्ठ–(१४०/१४४/१९४/१९६/१९८/२०३-४) आदि।

संदर्भ

१. आचार्य द्विवेदी जी के जीवनवृत्त से सम्बद्ध सूचनाओं के लिए देखें– आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी–व्यक्तित्व और कृतित्व, लेखिका–कुमारी पी० वासवदत्ता, प्रकाशक–युगवाणी प्रकाशन, कानपुर, सन् १९६५, पृष्ठ–१-४. तथा देखें–दिवंगत हिन्दी-सेवी, भाग–१, लेखक–क्षेमचन्द्र 'सुमन' प्रकाशक–शकुन प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण १९८३, पृष्ठ–६५१-६५२, तथा देखें–हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग एक के लेखक परिचय से तथा देखें–विश्वभारती पत्रिका, खण्ड–२०, अङ्क–१-२, न १९७९, तथा देखें–आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी–व्यक्तित्व एवं साहित्य, सम्पादक–डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त, प्रकाशक–भारतेन्दु भवन, चण्डीगढ़, प्रथम संस्करण-१९६३, तथा देखें–हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग-११, संपादक–जगदीशनारायण द्विवेदी व मुकुन्द द्विवेदी, प्रकाशक-राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-११५।

२. देखें–चारुचन्द्रलेख, पृष्ठ-९०, तथा देखें–हजारीप्रसाद द्विवेदी, संपादक–विश्वनाथप्रसाद तिवारी, पृष्ठ-१६२।

३. देखें–हजारीप्रसाद द्विवेदी, सम्पादक–विश्वनाथप्रसाद तिवारी, पृष्ठ-१५१-५६।

४. देखें–हजारीप्रसाद द्विवेदी, सम्पादक–विश्वनाथप्रसाद तिवारी, पृष्ठ-१८१।

५. देखें–शान्तिनिकेतन से शिवालिक, पृष्ठ–१६१–६९।

६. देखें–कुटज, लेखक–आचार्य द्विवेदी, प्रकाशक–लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण–१९७४।

७. देखें–विश्वभारती पत्रिका, खण्ड–२०, अङ्क–१–२, सन् १९७९, पृष्ठ–५२।

८. देखें–'आजकल' मासिक-पत्र, अक्तूबर–२००७, पृष्ठ–३०।

९. इनकी समस्त संस्कृत-कविताओं एवं पन्त जी की मूल हिन्दी की कविताओं के लिए देखें–हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग–११, सम्पादक–जगदीश नारायण द्विवेदी व मुकुन्द द्विवेदी, प्रकाशक–राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ–१०५–११।

१०. देखें–विश्वभारती पत्रिका, खण्ड–२०, अङ्क–१–२, सन् १९७९, पृष्ठ–१ से ५, १८ से २० तथा २४९।

हजारीप्रसाद द्विवेदी का लालित्य-बोध
(सांस्कृतिक अवधारणा)

अनिल गुगनानी

मनुष्य की श्रेष्ठ भावनात्मक एवं वैचारिक साधनाओं को संस्कृति के नाम से अभिहित करने वाले आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का सम्पूर्ण साहित्य एवं चिन्तन वास्तव में भारतीय संस्कृति और प्राचीन परम्परा का बृहत् कोष है। लोकधर्म से अनुप्राणित उनका सांस्कृतिक चिन्तन, लोक-चेतना के गवाक्षों की झिलमिलियाँ खोलता है। 'लोक' और 'शास्त्र' में सामंजस्य स्थापित करते हुए आचार्य द्विवेदी लोकमानस, लोकधर्म व लोक सत्य को शास्त्र से श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं। हिन्दी-पूर्व के सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के सहज विकास के रूप में वे विराट भारतीय सांस्कृतिक और साहित्य परम्परा से हिन्दी को जोड़ पाते हैं। अनार्यों व यक्ष-किन्नरों के कवि कालिदास, भक्त सूरदास और निर्गुणवादी सन्त कबीर का एक साथ साक्षात्कार कर लेना शायद द्विवेदी जी की इसी सांस्कृतिक टेक का परिणाम है। विश्वबन्धुत्व को प्रतिभासित करने वाली उनकी सामाजिक व समन्वयवादी सांस्कृतिक थाती मध्ययुगीन लोकधारा से पनपी है। यही मानवतावादी टेक ही उनकी कलादृष्टि व लालित्य बोध तक की यात्रा का एक मील-पत्थर भी बनी है।

कालिदास और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दर्शन से अभिभूत आचार्य द्विवेदी विराट मानवता, लोकमंगल और समन्वयवाद की कसौटी को, संस्कृति से आगे कला और सौन्दर्यबोधशास्त्र की ओर भी ले जाते हैं। भारतीय धर्म, दर्शन, शिल्प, नृत्य और नाटक की उनकी अनन्य साधना कालिदास के ललित एवं मनोहारी साहित्य से परम्परा को ग्रहण करती है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर उन्हें 'व्यष्टि में समष्टि का स्पन्दन करवाने वाले बीसवीं शताब्दी के कालिदास' लगते हैं। उन्हीं की टेक पर चलते हुए आचार्य द्विवेदी कला और सौन्दर्यबोधशास्त्र का मूल लक्ष्य व्यष्टि चेतना की अपेक्षा समष्टि चेतना को मुखरित करना मानते हैं। कला को वे उन समस्त मानवीय प्रयत्नों से जोड़ते हैं जो मानव को सुसंस्कृत बनाते हुए चले आ रहे हैं। अतः मानव को ही साहित्य का लक्ष्य मानते हुए वे उसे मानवीय आत्मचेतना का संचालक व सभ्यतागत विकास का द्योतक भी मानते हैं। अपने इसी विचार बिन्दु की पुष्टि वे 'अशोक के फूल' में भी करते हैं "मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य की दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।"

'लोक' के सामूहिक मंगल की कामना करते हुए आचार्य द्विवेदी चिन्मुखी मानवतावाद के पोषक रूप में उभर कर सामने आते हैं। लोक का यही चिन्मुखी पक्ष उन्हें आधुनिकता की ओर भी प्रवृत्त करता है और मानवतावादी भी बनाता है। उनका सांस्कृतिक चिन्तन भारतीय मनीषा को प्रेरणा स्रोत के रूप में लेकर चला है, पाश्चात्य संदर्भों को नहीं। यही उनके सांस्कृतिक चिन्तन और सौन्दर्य चेतना की भावभूमि है। इसी को आधार बनाते हुए वे अतीत और वर्तमान में संवाद स्थापित करते हैं। यदा-कदा वे पूर्व और पश्चिम के बीच में 'सांझे-स्पर्श' को भी तलाश पाते हैं। विराट भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं व कलात्मक उच्च आदर्शों को साहित्येतिहास की तीसरी आँख से नूतन संदर्भों व परिप्रेक्ष्यों में टटोलकर अपने पाठकों तक सहजता से परोसने की कला आचार्य द्विवेदी को हिन्दी के सार्वकालिक धुरंधरों में ला खड़ा कर देती है। वे 'प्राचीन भारतीय परम्पराओं के अग्रदूत' भी इसीलिए कहलाते हैं।

समष्टिगत चित्त शक्ति की सर्जनेच्छा के रूप में वे भी कालिदास की ही तरह सृष्टि में 'एक व्यापक छंद' की भूमिका देखते हैं। यहीं से साहित्य, संस्कृति और सौन्दर्य की धाराएँ फूट पड़ती हैं। 'सुन्दर' को चित्त शक्ति के ज्ञान, इच्छा व क्रिया का समन्वय मानते हुए वे कलात्मक सौन्दर्य या मानव निर्मित वस्तु की समग्रता व उससे उत्पन्न आनन्द में सौन्दर्यानुभूति के दर्शन कर पाते हैं। मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य आदि कलाओं को वे इस सौन्दर्यानुभूति का निमित्त मानते हैं। सौन्दर्यबोध के संदर्भ में उनकी सुस्पष्ट धारणा है कि इसमें उद्दीप्त संस्कारों व उद्दीपक सामग्री दोनों का योग होता है। प्राकृतिक सौन्दर्य से मानव रचित सौन्दर्य को श्रेष्ठतर मानते हुए वे इसे 'लालित्य' का नाम देते हैं। वही लालित्य जो प्राकृतिक सौन्दर्य से जनित होकर भी उससे भिन्न होता है और अन्तरतम की अपार अनुभूतियों की एक परम्परा खड़ी कर देता है। मनुष्य की सृजनात्मक इच्छा शक्ति को ही शास्त्रों में विश्व-व्यापी 'सृजनात्मिका ललिता' का व्यष्टिगत रूप कहा जाता है। यही ललित-शक्ति मनुष्य को रचनात्मक बनाती है। तांत्रिकों की ६४ देवियों में से एक ललिता का संदर्भ भी शायद वही है। प्रयाग की देवी ललिता भी शायद इन्हीं संदर्भों से जुड़ी है। वही ललिता वैष्णवों की भी देवी है और शिव की सहकारिणी है। सौन्दर्यबोधशास्त्रीय संदर्भों में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की टेक पर चलते हुए आचार्य द्विवेदी 'लालित्य' को विश्व-व्यापक सृजनात्मक शक्ति इसी 'ललिता' का व्यष्टि रूप मानते हैं जो समष्टिगत छन्द से ताल मिलाकर 'सुन्दर' की अभिव्यक्ति विविध रूपेण करती है। उनका यह लालित्य-तत्त्व मानवीय इच्छा शक्ति व सृजनशीलता का अनुपम विलास है जो उसे नित--नूतन कलात्मक रचनाओं के सृजन हेतु प्रेरित करता है। 'मानव चैतन्य की सीमाहीन अभिव्यक्ति की व्याकुलता ही लालित्य तत्व का मूल उत्स है'। यह कलात्मकता सौन्दर्य-लालित्य 'समग्र एक्य' के भाव को संजोए हुए है; छन्द रूप में यह एक्य अभिव्यक्ति, राग, लय और मिथक का सामाजिकीकरण है और

समष्टिचित्त से स्वीकृत होकर मंगल प्रेषित करता है। अतः, आचार्य द्विवेदी के लिए सौन्दर्यानुभूति वस्तु के समग्र भाव की अनुभूति है जिसका विवेचन सामाजिक या कलाकार का लक्ष्य होता है। इसे वह अपने जन्मजात संस्कारों या अर्जित संस्कारों के योग से यथायोग्य प्राप्त करता है। दृष्टि-सापेक्षता सामाजिक अनुभूति की कोटि को तय करती है; वस्तुगत सौन्दर्य को नहीं।

कलाओं में निहित सौन्दर्य को वे अन्तःकरण की शुद्धि से भी जोड़ते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि काव्य, शिल्प, चित्र, मूर्ति, नाटक और संगीत आदि कलाओं में निहित सौन्दर्य की चरम आनन्दानुभूति उसी तत्त्व-दृष्टा को होती है जो भ्रान्तिमुक्त, भयहीन व योग से शुद्ध-मन लिए होता है। अतः आचार्य द्विवेदी का लालित्य तत्त्व मानव-चित्त की संजीवनी शक्ति है। सौन्दर्यबोध को केन्द्र में अवस्थित कर यह मानवीय चेतना वास्तव में सम्पूर्ण वैश्विक मानव की चेतना है। यही वैश्विक चेतना आनन्दमूलक और मांगल्य-मूलक मानवीय-दृष्टि है। 'लालित्य तत्व' उनकी सौन्दर्य चेतना को उद्घाटित करता है। 'कालिदास की लालित्य योजना' में वे सौन्दर्य, बिम्ब-योजना, प्राकृतिक सौन्दर्य और मानव तत्त्वों के आधार पर कालिदास के सम्पूर्ण साहित्य को टटोलने का अभूतपूर्व उपक्रम करते हैं और उद्घोषणा करते हैं कि लालित्य, सहृदय के चित्त को आनन्दानुभूति से संतृप्त कर सिसृक्षामय बनाता है। भारतीय कलाओं में वे सौन्दर्यबोध मीमांसा का केन्द्र-बिन्दु 'रस-तत्त्व' (चमत्कार, लालित्य और सौन्दर्य) को मानते हैं।

सौन्दर्योत्पादन के संदर्भ में आचार्य द्विवेदी प्रकृति की अभिव्यक्तियों को अपनी इच्छित अभिव्यक्तियों के अनुरूप ढालना आवश्यक मानते हैं। उनकी मान्यता है कि हर सृजन को इसी जगत् से होकर गुजरना है। सौन्दर्य की आकांक्षा मानव द्वारा जगत् को आत्मसात् किये बिना पूरी नहीं हो सकती। इच्छित अभिव्यक्तियों व प्राकृतिक उपादानों के द्वंद्व में कलाकार को समष्टिगत चित्त के अनुरूप विराट की सिसृक्षा से अनुकूलता भी बनाए रखनी होती है। इसी समष्टिगत चित्त में सामाजिकता और मानवीयता को लेकर आचार्य द्विवेदी चले हैं। यही उनके इतिहास-विवेक का स्रोत भी है और परम्परा का बोधक भी। परम्परा और वर्तमान के बीच सृजन और संघर्ष का बोध उन्हें आधुनिकीकरण की ओर ले चलता है।

छन्द की उपलब्धि, अनुभवजन्य उच्छल आनन्द व साधारणीकरण की समन्वित क्षमता से लैस 'आत्मदान' की व्याकुलता को आचार्य जी कलाकार की सर्जनेच्छा व रसानुभूति की दो अनिवार्य शर्तें मानते हैं। चित्त की अन्तरवृत्तियों से तादात्म्य स्थापित करते हुए वे आत्मदान की अंतरंगता कलाकृति से भी स्थापित कर पाते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अनुभव और अभिव्यक्ति से संवर्द्धित, वैश्विक मानवीय चेतना ही सौन्दर्य-बोध के केन्द्र में है, जो वस्तु की

समग्रता का बोध करवाती है।

देशकाल की सीमाओं की तरह कलाकार के रचना-कौशल और ग्राहिकाशक्ति की सीमा को भी आचार्य द्विवेदी स्वीकार करते हैं। यह सीमा उसके रचनात्मक अभिव्यक्ति स्तर को प्रभावित करती है। ललित कलाओं में से वे काव्य को सूक्ष्म और संगीत को सूक्ष्मतर मानते हैं। सृजन-प्रक्रिया विषयक उनका मत सौन्दर्यबोधशास्त्र की स्थापित परम्परा के अनुकूल यह स्वीकार करता है कि कलाकार रचना करने से पहले ज्ञान-शक्ति, इच्छा-शक्ति और क्रिया-शक्ति के बलबूते पर बाह्य वस्तु की 'मानसी भाव-मूर्ति' (आइकॉन) गढ़ता है और फिर उसे अपनी अनुभूति की भाषा में, माध्यम के सहारे रूपांतरित करने का प्रयास करता है।

कालिदास की कृतियों के माध्यम से आचार्य द्विवेदी ने विभिन्न इन्द्रियों के प्रकारों को स्पष्ट करते हुए घ्राण को स्थूल, रूप को सूक्ष्म और शब्द को सूक्ष्मतर कहा है, घ्राण बिम्बों को स्पर्श बिम्बों से अधिक स्थायी मानते हुए वे बिम्ब निर्माण में नेत्रों की रूपग्राही शक्ति को विशिष्ट मानते हैं। छन्द की व्यास-रेखा पर वे शब्द और संगीत का समन्वय कर पाते हैं। अतः चक्षु व श्रोत को वे त्वचा, रसना, व गंध की तुलना में श्रेष्ठ कोटि के बिम्बों का निर्माण करने वाली सौन्दर्यग्राहिका इन्द्रियाँ मानते हैं। इन इन्द्रियों के मानस-चित्त द्वारा परिष्कृत, संयोजित व समन्वित होने पर ही कलात्मक सृजन की भूमिका तैयार होती है। इस प्रकार सौन्दर्यबोधानुभूति और सौन्दर्यबोधानुभव के पूर्ण विन्यास की भूमिका भी तैयार हो जाती है।

सौन्दर्यबोधशास्त्रीय अवधारणाओं व उनके 'लालित्य तत्त्व' के विकास में कालिदास की लालित्य योजना और रवीन्द्र साहित्य का विशिष्ट प्रभाव है। लालित्य शास्त्र की वीथियों में विचरण करते हुए आचार्य द्विवेदी ने कालिदास की कृतियों से कुछ विलक्षण पारिभाषिकों को न केवल खोजा है अपितु उनका प्रभावशाली व्यवहार भी अपनी रचनाओं में किया है। अबोधपूर्वास्मृति, पर्युत्सुकी भाव, अन्यथाकरण अन्वयन, यथालिखितानुभव, तत्त्वान्वेषण, भावानुप्रवेश, चित्त समाधि, आदि ऐसे ही कुछ पारिभषिक हैं जिनके विलक्षण संदर्भों को अपने सौन्दर्यबोधशास्त्रीय लेखन से उन्होंने जोड़ा है।

सौंदर्यबोधशास्त्रीय संदर्भों को अनुप्रयुक्त करने के बावजूद लालित्य तत्त्व और सौंदर्यबोध की भावभूमि अपनी-अपनी है। आचार्य द्विवेदी द्वारा प्रयुक्त यह पारिभाषिक सौंदर्यबोधशास्त्र की क्लासिकल परंपरा से जा जुड़ता है जबकि सौंदर्यबोधशास्त्र या ऐस्थैटिक्स आधुनिक परंपरा से (हीगेल, क्रोचे, स्पेंसर, सूजाँलैंगर, बामगार्टन) संबद्ध है। इस ज्ञानानुशासन का मूलाधार संवेदना, संवेगों, ऐंद्रियकता व सौंदर्य से जुड़ा होना है जबकि लालित्य, तत्त्व-मीमांसा और 'ललिता' के मिथक से जुड़ा हुआ है। इसकी धुरी मिथक व प्रतीक की भावभूमि है। 'लीला' इसका प्रतीकात्मक रूप है। लालित्य तत्त्व तांत्रिकों की ६४ देवियों में से एक प्रयाग पीठ की देवी

महामाया की लीला का विलास है और शिव की सहकारिणी शक्ति है।

मानवता व संस्कृति आचार्य जी के सौंदर्यबोधशास्त्रीय या लालित्य चिंतन की अनिवार्य शर्तें हैं। इसी विभाजक रेखा पर हमारा शोधपत्र केंद्रित है। मिथकों से भाषा तक यात्रा करते हुए वे सौंदर्य तक पहुँचते हैं जहाँ शैव-दर्शन के प्रभाव से 'ललिता' छंद और नृत्य के माध्यम से अभिव्यक्त होती है और वैष्णव प्रभाव के चलते राधा-भाव व रूप की ग्रहिका एवं प्रस्तोता बन कर उभरती है। इस प्रकार, लालित्य तत्त्व के माध्यम से ललिता के मिथकीय व लीलापरक रूप को बड़ी दार्शनिक व तत्त्वान्वेषी कसौटी पर आचार्य द्विवेदी ने कसा है। 'ललिता' महामाया की लीला, शिव की सहकारिणी और तांत्रिकों की देवी के रूप में डायोनीसस (यक्ष) से उद्गमित सौंदर्यबोध की परंपरा के आस-पास तो है परन्तु पर्याय रूप में नहीं, क्योंकि सौंदर्यबोध तो भाव व भोग का केन्द्र है, भाव, कल्पना और संवेदनों का संधि-स्थल। फिर भी, लालित्य तत्त्व के प्रति आचार्य द्विवेदी का अपार मोह उन्हें सौंदर्यबोधशास्त्रीय व कलात्मक संदर्भों से ला जोड़ता है और लालित्य तत्त्व के प्राण-तत्त्व-'सौंदर्यबोध' के साथ समानांतर भूमि तलाश पाता है। आचार्य द्विवेदी की मान्यता है कि कविता में अन्य ललित कलाओं की अपेक्षा बाह्य जगत् के 'अन्यथाकरण' का सामर्थ्य अधिक होता है। काल मे प्रवाहित होकर कविता देश में स्थिति प्राप्त करती है। सौन्दर्य और लालित्य को वे संवेदनों से जोड़कर देखते हैं। शब्द के साथ स्नायुमंडल का अद्‌भुत सम्बन्ध लालित्य-भावना को प्रेरित करता है। इसी मान्यता के चलते आचार्य द्विवेदी 'विविक्तीकरण' की प्रक्रिया के माध्यम से उत्पन्न गद्यात्मक भाषा के साथ-साथ छन्द और संगीत का जन्म भी मानते हैं।

मिथकों को कलाकार के चित्त में उत्पन्न होने वाली भावनिर्मात्री शक्ति की अभिव्यक्ति मानते हुये वे उसका सम्बन्ध अवचेतन चित्त की सृजनात्मक शक्ति से भी जोड़ते हैं। इसी मिथकीय सिसृक्षा को उन्होंने 'सर्वात्मिका संवित्' के रूप पें देखा है और 'समष्टि-चेतना' भी कहा है। उनका स्पष्ट मत है कि "कविता मिथक तत्त्वों के माध्यम से प्रयत्नसाध्य सिसृक्षा का सुखद एवं सौन्दर्यपूर्ण परिणाम है। वह मिथकों का सहारा लेती है परन्तु स्वयं मिथक नहीं बनती।" नव निर्माण द्वारा समस्त सौन्दर्यों को एक जगह देखने की इच्छा ही कविकर्म या कलाकार का 'यथा-प्रदेशविनिवेशन' है अर्थात् ज्ञात तथ्यों, ज्ञात नियमों और भावनाओं की पुनर्व्यवस्था द्वारा निर्माण करने का कौशल ही विनिवेशन है जिसमें समष्टिचित्त द्वारा उपलब्ध वास्तविकता को अधिक ग्राह्य, उपयोगी और सुन्दर बनाने की प्रच्छन्न इच्छा काम करती रहती है। मिथक और भाषा के परस्पर सम्बन्ध और सौन्दर्यबोधात्मक विभेद को बड़ी विलक्षण दृष्टि से चिन्तन का विषय बनाते हुए उन्होंने उसे कलाकार के हृदय में स्थित अवचेतन चित्त की एक वेगवती नदी माना है जो समष्टि-चेतना का एक 'संचित कोष' बनकर उभरती है। अर्नेस्ट

कैसारिर की तरह वे भी भाषा और मिथकों का विकास एक ही मूल से मानते हैं और उसे भाषा के साथ मिथुनीभूत अवस्था में पाते हैं। उनका यह मत भी बड़ा व्यावहारिक लगता है कि भाषा के विकास के साथ-साथ मिथक की मूल रचयित्री शक्ति का ह्रास हुआ है। फिर भी, मिथक कविता, चित्र, मूर्ति और निजंधरी कथाओं में अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर, क्षितिमोहन सेन, नन्दलाल बोस और विधुशेखर भट्टाचार्य के सान्निध्य में शान्तिनिकेतन से मिली नयी मानवतावादी सोच एवम् मध्यकालीन सौन्दर्यबोधशास्त्रीय दृष्टि ने उनकी उत्तरोत्तर रचनाओं को एक नयी दृष्टि देने का महत् कार्य किया है। उनका समग्र साहित्य लालित्य-बोध और लालित्य, व्यक्ति और समष्टि, दर्शन और तत्त्व-दर्शन (एपेसिटोमोलॉजी), तथा निगम और आगम का अद्‌भुत् समन्वय सौन्दर्यवृत्त में प्रस्तुत करता है।

नैतिक मूल्यों की चौहदी के पार, आचार्य द्विवेदी शिल्प और अभिव्यक्ति की कोई अन्तिम सीमा-रेखा स्वीकार नहीं करते। लोकमंगल और मानवतावाद की कसौटी पर वे शिलर, नीत्शे, स्पेंसर, मार्शल और यहाँ तक कि मार्क्स की विचारधारा को स्वीकार करने से भी गुरेज़ नहीं करते और कहते हैं "जिस साहित्य और जिस कला में लोक-कल्याण की भावना है वह साहित्य अथवा कला चाहे पूर्व से हो, चाहे पश्चिम से, स्वीकार की जा सकती है।"

लालित्य और मानवतावाद की त्रिवेणी उनके साहित्य में निरन्तर प्रवाहमान है। समकालीन व परवर्ती सौन्दर्यबोध चिन्तकों से कहीं आगे व विलक्षण दिशा में पग धरते हुए आचार्य द्विवेदी ने सौन्दर्यबोधशास्त्र व कला का प्रयोजन 'मानव मात्र' को माना है। कला को मानवीय प्रयत्नों, मनुष्यत्व की उपज और मानवता का उत्प्रेरक प्रयाण-बिन्दु स्वीकार कर आचार्य द्विवेदी लालित्यबोध को अक्षुण्ण भारतीय सांस्कृतिक धारा की विजय-पताका स्वीकार करते हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य से श्रेष्ठतर लालित्य-तत्त्व को मूर्ति, चित्र, और वास्तुकला के संदर्भ से आगे काव्यशास्त्र व कलापक्षीय वृत्त में ले जाने का श्रेय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को जाता है। उनकी सांस्कृतिक चेतना का दायरा व्यक्ति, समाज और देश की सीमाएँ लाँघता हुआ 'विश्व नागरिक' की परिकल्पना तक जा पहुँचता है। लोक-सांस्कृतिक धारा को भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों व लालित्यबोधीय चेतना से जोड़कर आचार्य द्विवेदी आधुनिक हिन्दी चिन्तकों व सौन्दर्यबोध तत्त्व के प्रणेताओं में सर्वोच्च शिखर तक जा पहुँचे हैं। महावराह के बाद 'ललिता' के मिथक को सौन्दर्य-दर्शन में उन्मीलित करने का श्रेय आचार्य द्विवेदी को है। सम्भवतः इसी दृष्टि से वे 'मैक्समूलर' 'केंपवैल' और अर्नेस्ट कैसारिर के समकक्ष आसीन हो जाते हैं।

रामकुमार वर्मा : एक संस्मरणात्मक श्रद्धाञ्जलि

विश्वनाथ मिश्र

डॉ० रामकुमार वर्मा मेरे गुरु रहे थे। कालजयी और बहुमुखी प्रतिभा के धनी डॉ० वर्मा को मैंने सर्वप्रथम कवि के रूप में जाना था। यह बात आज से लगभग सत्तर वर्ष पहले १९३७-३८ की है। मैं उन दिनों राजकीय इण्टर कालेज, इलाहाबाद का छात्र था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय की रजत जयन्ती आयोजित हो रही थी। उस संदर्भ में लगभग तीन दिन चलने वाले कवि सम्मेलन का आयोजन हुआ था। यह आयोजन म्योर सेण्ट्रल कालेज के परिसर में संयोजित हुआ था और मैं पहले ही दिन अपने कुछ मित्रों के साथ कवियों के काव्य-पाठ का आनन्द लेने पहुँच गया था। डॉ० वर्मा को मैंने उस दिन पहली बार दूर से देखा था और उनकी कुछ कविताएँ सुनी थीं। उस कवि सम्मेलन में हमारे इस विशाल देश के अनेक क्षेत्रों के कवि जो हिन्दी में लिखते थे, बुलाये गये थे, स्थानीय और युवावस्था होने के कारण वर्मा जी का नाम दोपहर बाद साढ़े चार बजे आया था। उन्होंने उस शुभअवसर पर जो पहली कविता पढ़ी थी, उसकी कुछ पंक्तियाँ मुझे आज भी याद हैं और मैं अब भी उन्हें अक्सर दोहराया करता हूँ।

इस सोये संसार बीच, जगकर सजकर रजनी बाले,
कहाँ बेचने ले जाती हो, ये गजरे तारों वाले।
यदि प्रभात तक तुमसे कोई आकर हाय न मोल करे,
तो फूलों पर ओस रूप में, बिखरा देना ये गजरे।।

वर्मा जी की इस रचना को सुनकर मुझे लगा था कि अपराह्न में ही उन्होंने जैसे तारों भरी रात का परिवेश उजागर कर दिया था। उनकी इस रचना ने केवल मुझ पर ही नहीं, काव्य-पाठ सुन रहे विशाल जन समुदाय को भी अपने सम्मोहन में बाँध लिया था। उनकी अन्य काव्य रचनाएँ भी बड़ी रुचि के साथ सुनी गयी थीं।

वर्मा जी का काव्य-पाठ सुनने का दूसरा अवसर मुझे सन् १९३९-४० में मिला था, जब मैंने बी०ए० कक्षा में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया था। उन दिनों के हिन्दी-विभाग के सभागार में स्थानीय कवियों का एक कवि सम्मेलन हुआ था। उसमें विश्वविद्यालय के बाहर के कुछ कवियों के बाद वर्मा जी से आग्रह किया गया था कि वे अपनी रचनाएँ सुनायें। उन्होंने पहली बार ये पंक्तियाँ पढ़ी थीं–

आज केतकी फूली
अन्तरिक्ष का बिखरा वैभव, पृथ्वी पर संचित है,

इसीलिए यह कलिका नव छवि ले, जग में विकसित है,
पवन चूम लेता है, मेरी इच्छा से परिचित है
आज प्रेम की अँगुली से, मैंने वह चिर छवि छू ली।
आज केतकी फूली।।

यह कविता और आगे बढ़ी थी। उसके पूरे होने पर उर्दू के प्रसिद्ध शायर फिराक गोरखपुरी ने वर्मा जी से कहा था कि हम आपकी कोई ताजी कविता सुनना चाहते हैं। वर्मा जी ने तब अपना एक गीत पढ़ा था–

फूल सी ओ फूल वाली!
किस सुमन की साँस तुमने, आज अनजाने चुरा ली।

उनके इस गीत को सुनकर मुझे लगा था कि वर्मा जी नैसर्गिक शोभा के दर्शन केवल प्रकृति के विभिन्न रूपों में ही नहीं वरन् मानवीय स्वरूप, विशेष रूप से नारी के रूप वैभव में भी करते हैं।

वर्मा जी के निकट आने का अवसर मुझे १९४१ में मिला, जब मैंने एम० ए० हिन्दी की कक्षा में प्रवेश लिया। पहले वर्ष उन्होंने हमें छायावादी कवि प्रसाद, निराला और पन्त पढ़ाये थे। जब वे कोई कविता पढ़ाते थे तो उसकी विवेचना एक काव्य प्रवाह का रूप ले लेती थी। वे हमें बड़े सहज रूप में कवि के भाव लोक में पहुँचा देते थे। इस संदर्भ में मुझे संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्य भट्टतौत की यह उक्ति स्मरण आ रही है–

कवे : पाठकस्य श्रोतुः समानो अनुभवस्तदा

अर्थात् समुचित काव्य-पाठ में कवि, पाठक और श्रोता तीनों एक ही भाव-लोक में पहुँच जाते हैं। वर्मा जी अपनी व्याख्या से कवि के साथ तादात्म्य स्थापित करके हमें भी उसी के भाव लोक में पहुँचा देते थे। कविता किसी भी अनुभूति को लेकर लिखी गयी हो या पढ़ी गयी हो, हम सभी भाव-विभोर हो उठते थे।

वर्मा जी ने उन्हीं दिनों 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' लिखा था और उस पर नागपुर विश्वविद्यालय ने उन्हें पी-एच०डी० की उपाधि प्रदान की थी। इसलिए दूसरे वर्ष जब उन्होंने हमें हिन्दी साहित्य का इतिहास पढ़ाया था, तो हमें अनेक अध्यापन में, उनके अनुसन्धान का शील देखने को मिला था। इस अध्यापन में बौद्धिकता अधिक होती थी। उनका भावना का शील यदा-कदा ही, उनकी रुचि का कोई कवि आ जाने पर प्रकट होता था–हमारे मन की वीणा के तार तब तरंगित हो उठते थे।

मैंने हिन्दी में एम० ए० तो किया, लेकिन अंग्रेज़ी की कविताएँ, कहानियाँ और उपन्यास

यदा-कदा पढ़ा करता था। उन दिनों प्रोफेसर अमरनाथ झा, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुलपति थे। वे अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य के विद्वान् थे। उनसे अक्सर मिलने जाता था और अंग्रेजी में ही बातचीत करता था। सन् १९४३ में एम० ए० करने के बाद मैंने उनसे कहा कि मैं अब अनुसन्धान कार्य करना चाहता हूँ। उन्होंने कहा, 'तुम अकेले हिन्दी पढ़ने-लिखने वाले ऐसे व्यक्ति हो, जो अच्छी अंग्रेजी बोल लेते हो, अतः मैं चाहता हूँ कि तुम 'हिन्दी भाषा तथा साहित्य पर अंग्रेजी प्रभाव' विषय में अनुसन्धान कार्य करो। मैंने उनसे कहा, 'मैं हिन्दी साहित्य में अंग्रेजी प्रभाव' विषय पर तो कार्य कर लूँगा, लेकिन अंग्रेजी भाषा पर तो मेरा इतना अधिकार नहीं है, जिससे मैं हिन्दी भाषा पर उसके प्रभाव का अध्ययन कर सकूँ।' उन्होंने कहा, 'यह कार्य तुम्हें ही करना है, बस मैं विषय को थोड़ा छोटा किये देता हूँ, तुम १८७० से १९२० तक हिन्दी भाषा तथा साहित्य में अंग्रेजी प्रभाव के विषय पर कार्य करो'। मुझे उनका आदेश मानना पड़ा था। डॉ० वर्मा को मेरे अनुसंधान कार्य के निर्देशन का भार सौंपा गया था।

स्वभावतः डॉ० वर्मा का शोध छात्र बनने पर मुझे उनसे कुछ अधिक मिलने, बैठकर बातचीत करने का सुअवसर मिला, तभी उनका एक नाटक, जिसका शीर्षक आज मुझे स्मरण नहीं है, विश्वविद्यालय के ड्रामेटिक क्लब के सभागार में खेला गया। रंगमंच पर पीछे की ओर एक पार्श्व में मूलाधार से ब्रह्म-रंध्र तक जाते हठयोग के विभिन्न कमलों का चित्र टँगा था। नाटक में आध्यात्मिक साधना में उठने वाली किसी समस्या का बौद्धिक विश्लेषण था। डॉ० अमरनाथ झा उसे देखने आये थे। उन्होंने पूरा नाटक देखकर कहा था–'यह नाटक उस पश्चिम की बुद्धिवादी नाटक परम्परा का है, जिसमें गतिशीलता अधिक नहीं होती, बस समस्या का विश्लेषण होता है। डॉ० वर्मा ने लगता है, यह रचना शैली जार्ज बर्नाड शॉ के नाटकों से ग्रहण की है जिनमें उच्च कोटि का संवाद सौष्ठव, देखने को मिलता है। शॉ के नाटकों के संवादों में मात्र उनका बौद्धिक वर्चस् देखने को मिलता है, लेकिन वर्मा जी कवि भी हैं, इसलिए उनके संवादों में भावना का शील भी प्रगट हुआ है। उन स्थलों पर उनके संवाद हमें काव्यानन्द प्रदान करते हैं।

मुझे अनुसन्धान कार्य के सम्बन्ध में अक्सर वर्मा जी के घर भी जाना होता था। एक दिन उन्होंने मुझसे कहा कि आज मैं तुम्हारा कार्य नहीं करूँगा। मैंने इधर आल इण्डिया रेडियो के लिए एक नाटक लिखा है, वह तुम्हें सुनाना चाहता हूँ। अपने इस नाटक का शीर्षक मैंने कविवर सुमित्रानन्दन पन्त की एक कविता से लिया है, 'तुम्हारी आँखों का आकाश।' उसके बाद उन्होंने एक नवयुवक का अपनी प्रिया के साथ संवाद उपस्थित किया था। मात्र उन दोनों की ही बातचीत थी। उस एकांकी को पढ़ते हुए वर्मा जी यह सर्वथा भूलकर कि वे ४० वर्ष के हो गये हैं, मात्र २० वर्ष के युवा बन गये थे। प्रेयसी के संवाद पढ़ते हुए किसी किशोरी का कण्ठ-स्वर

तो नहीं, वाणी में कुछ कोमलता आ जाती थी। मुझे उस दिन लगा था कि नाट्य-लेखक के लिए यह परम आवश्यक है कि वह जिस चरित्र के संवाद लिख रहा है, उसके साथ पूर्ण एकात्मता स्थापित कर ले। दूसरे संवाद तक आते-आते उसे दूसरे चरित्र के साथ अपने को एकात्म बना लेना चाहिए। मुझे उस दिन लगा था कि वर्मा जी में यह सामर्थ्य भली प्रकार है। कालान्तर में जब मैंने वह नाटक रेडियो पर सुना था, तब मुझे लगा था कि अभिनेता के लिए भी यह आवश्यक है कि जिस चरित्र की भूमिका में वह उतर रहा है, उसके साथ वह अपने को एकाकार कर दे। आगे चलकर जब मैंने भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन किया तब मैंने यह समझा कि किसी भी अभिनेता को रंगमंच पर नाटककार उसे जितनी दूर तक जाने देना चाहता है, उतनी ही दूर उसे जाना चाहिए। इसलिए अभिनेता में आत्म-नियंत्रण की विशेष अपेक्षा होती है।

वर्मा जी से कुछ समय बाद उनके निवास पर एक और नाटक सुनने को मिला था 'औरंगजेब की आखिरी रात'। इस नाटक की गणना वर्मा जी की कालजयी रचनाओं में होती है। औरंगजेब अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में, उसने समय-समय पर जो दुष्कर्म किये हैं उन्हें स्मरण करता है।

डॉ० वर्मा ने अभी यह नाटक पढ़ना आरम्भ नहीं किया था, संयोग से तभी डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आ गये थे। आते ही उन्होंने कहा था, 'क्या पढ़ रहे हो रामकुमार?' वर्मा जी ने उत्तर में कहा था, 'मैंने अभी एक एकांकी नाटक 'औरंगजेब की आखिरी रात' लिखा है, उसे ही विश्वनाथ को सुनाने जा रहा था, आप भी सुनना चाहेंगे?' धीरेन्द्र जी, 'हाँ, मैं भी सुनूँगा। मैं वैसे ही बिना किसी काम के तुमसे मिलने आ गया था। अच्छा अब अपनी ताजी रचना पढ़ना आरम्भ करो।'

डॉ० वर्मा ने विस्तार में न जाकर प्रस्तावना संक्षेप में ही बता दी थी। औरंगजेब अपने दक्षिण के अभियान से पस्त होकर अहमदनगर के किले में बीमार पड़ा हुआ है। उसका शरीर टूट चुका है। उसे बुखार और खाँसी भी है। वह वस्तुतः अपने जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है। उसकी बेटी जीनत उन्निसा उनके पास बैठी हुई है और उन्हें हर प्रकार से समझा-बुझा रही है। उनके पास बीच-बीच में एक सिपाही करीम आता रहता है। हकीम साहब भी तीमारदारी के लिए आते रहते हैं। इस भूमिका के बाद रामकुमार जी अपना एकांकी नाटक पढ़ना आरम्भ करते हैं।

नाटक का आरम्भ आलमगीर औरंगजेब की अपनी बेटी के साथ बातचीत से होता है। औरंगजेब समझ रहा है कि उसकी जिन्दगी के आखिरी क्षण आ गये हैं। जीनत उन्हें हर प्रकार से समझाती है। हकीम साहब भी बीच-बीच में आकर उनके ठीक हो जाने की बात करते हैं, लेकिन औरंगजेब बार-बार यह कहता है कि, जिन्दगी भर उसने गुनाह ही किये हैं, और उन

गुनाहों के परिदृश्य उनकी आँखों के आगे बार-बार आ रहे हैं। वह याद करता है कि अपने वालिद शाहंशाह शाहजहाँ को, उसने कैद किया; दाराशिकोह की बड़ी नृशंसता से हत्या करायी; अपने और भाइयों शुजा और मुराद को मरवा डाला; हजारों सतनामियों का कत्लेआम किया। वर्मा जी ने औरंगजेब के संवादों का कुछ ऐसा विन्यास खड़ा किया है, कि ये सारे परिदृश्य उसके संवादों के माध्यम से श्रोताओं अथवा पाठकों के मन में साकार होते जाते हैं। वह यह भी परिदृश्य देखता है कि वह हाथी पर बैठा सैरगाह जा रहा है। आगे-पीछे हिन्दुओं का बेशुमार मजमा है। वे चीख-चीख कर कह रहे हैं कि आलमपनाह जजिया माफ कर दीजिए; लेकिन वह माफ कैसे कर सकता है? दकन की लड़ाइयों के लिए खर्चा कहाँ से आयेगा? लोग रास्तों पर लेट जाते हैं। औरंगजेब गुस्से में आकर हुक्म देता है कि इन कमबख्तों पर हाथी चढ़ा दो। हाथी आगे बढ़ता है और फिर सैकड़ों चीखें। इन्हीं परिदृश्यों के समाप्त होते-होते, वह कातिब को बुलाता है। अपने बेटों आदम और कामबख्श को खत लिखवाता है और फिर आखिरी साँस के साथ, 'या अल्लाह, हमारे गुनाहों को बख्श दीजिए! दारा! शुजा! और मुराद!...' तभी बाहर से 'अल्ला हो अकबर' के स्वर आते हैं। औरंगजेब सिर उठाकर अजान आने की दिशा में देखता है और फिर 'अल्ला... हो... अक' कहते-कहते उसका सिर एक ओर गिर जाता है। बाहर से अजान के स्वर आते रहते हैं। जीनत अपने आँचल से अपने आँसू पोछती है और पास पड़े रेशमी कपड़े से अपने वालिद का सिर ढँक देती है।

वर्मा जी द्वारा नाटक का पाठ पूरा होते ही अचानक बिजली चली गयी थी। कमरे में कुछ देर तक स्तब्धता छायी रही थी। फिर डॉ० धीरेन्द्र वर्मा जी बोले, 'रामकुमार तुमने अपने इस नाटक में जो खौफनाक वातावरण उपस्थित किया है, वह हमारे सामने बिल्कुल साकार हो उठा है। मैंने तुम्हारी जो भी रचनाएँ पढ़ी हैं, उनमें यह मुझे सबसे अधिक प्रभावपूर्ण लगती है। मैं अपने को और कुछ कह पाने में सर्वथा असमर्थ अनुभव करता हूँ।' मेरे मन में भी उस दिन की याद जब भी आती है तो खौफ से भर उठता हूँ।

वर्मा जी से इसके बाद भी मुझे समय-समय पर तीन और एकांकी सुनने को मिले थे, 'चारुमित्रा', 'प्रतिशोध', 'कौमुदी महोत्सव'। 'चारुमित्रा' में अशोक के कलिंग विजय के अनन्तर वहाँ की एक बालिका से संवाद है जिसने अपने वाक्-वैभव से उस विजेता को पराजित कर दिया है। 'प्रतिशोध', संस्कृत के वरिष्ठ कवि भारवि के साथ उनके पिता महापण्डित श्रीधर का सम्वाद है। पिता ने अपने पुत्र की उठते-बैठते भर्त्सना करने का स्वभाव बना लिया था। उसकी माँ इस सम्बन्ध में आपत्ति उठाती है और श्रीधर उन्हें बताते हैं कि यह सब वस्तुतः अपने पुत्र को और अधिक उत्कृष्ट रचनाएँ लिखने की प्रेरणा देने के लिए है। 'कौमुदी-महोत्सव' में आचार्य चाणक्य के अपना कार्य पूरा हो जाने पर सम्राट् चन्द्रगुप्त के हाथों में सम्पूर्ण देश की सुरक्षा का

भार सौंप कर वैराग्य ग्रहण करने का आख्यान है। भारतीय नाट्यशास्त्र में निर्वेद को नाटक का प्रधान रस बनाने का निषेध किया गया है; लेकिन वर्मा जी ने उसे रसावस्था तक पहुँचा दिया है।

सन् १९४७ में मुझे पारिवारिक परिस्थितियों के कारण शिक्षण कार्य ग्रहण करना पड़ा। इलाहाबाद छूट गया, अतः डॉ० वर्मा जी से मेरी भेंट यदा-कदा ही होती रही। अवकाश ग्रहण करने के बाद जब मैं लखनऊ आया और अपना मकान बनवा रहा था तो समाचार-पत्र में पढ़ने को मिला, डॉ० वर्मा अस्वस्थ हैं, उनके एक पैर में फ्रेक्चर हो गया है। विवेकानन्द नर्सिंग होम में उनका उपचार हो रहा है और वे अपने एक शिष्य श्री गंगाप्रसाद मिश्र के निवास पर, जो इसी नर्सिंग होम के पीछे है, ठहरे हुए हैं। मैं डॉ० वर्मा से मिलने गया। वे कुछ अशक्त से पलंग पर लेटे हुए थे, लेकिन उनके मुख पर जिजीविषा की आभा झलक रही थी। मैंने आगे बढ़कर उनके चरणों का स्पर्श करना चाहा। उन्होंने उठकर बैठने का प्रयास करते हुए कहा, 'लेटे हुए व्यक्ति के चरण नहीं छुए जाते। अच्छा अब मेरा आशीर्वाद लो और यह बताओ यहाँ कैसे आ गये?'

मैंने अपनी वस्तुस्थिति स्पष्ट की और तब पं० गंगाप्रसाद मिश्र जी ने मुझसे कहा कि ये यहाँ अकेले ही रहते हैं। दिन भर डॉ० वर्मा की देख-रेख के लिए यहाँ कोई नहीं रहता, इसलिए दोपहर को आप यहाँ आकर डॉ० वर्मा के साथ रह सकें, तो अच्छा रहेगा। मैंने कहा था कि मैंने अपने मकान बनवाने का ठेका दे रखा है, अतः मैं यथासम्भव नियमित रूप से दोपहर को डॉ० वर्मा के पास आता रहूँगा। उसके बाद लगभग एक महीने उनके पास छह-सात घण्टे बैठने का सुअवसर मिलता रहा। वर्मा जी उन दिनों कभी-कभी अपनी काव्य-रचनाएँ सुनाया करते थे। उनकी एक काव्य-रचना की कुछ पंक्तियाँ मुझे याद आ रही हैं—विशेष रूप से इसलिए कि उन्हें लेकर उनके साथ कुछ विशेष बातचीत हुई थी। वे पंक्तियाँ थीं—

आज मेरी गति तुम्हारी आरती बन जाय,
प्राण वंशी बार-बार पुकारती बन जाय।

मैंने उनकी इस रचना को अन्त तक बड़े मनोयोग से सुनने के बाद कहा था कि आप अपने इस गीत को आध्यात्मिक चेतना की वाणी कहेंगे। कुछ समीक्षकों ने इसे छायावादी काव्यधारा में रहस्यवाद की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति कहा है। लेकिन मेरा कहना है कि यह रहस्यवाद वास्तविक आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति नहीं है। आपकी तथा महादेवी वर्मा जी की रचनाओं में जो रहस्यवाद देखने को मिलता है, वह वस्तुतः बौद्धिक रहस्यवाद है। महादेवी जी नारी हैं अतः उनकी रचनाओं में भावना का शील विशेष रूप से आ गया है जो उनकी रचनाओं को विशेष प्रभावपूर्ण बना देता है। वास्तविक रहस्यवादियों के साथ जो साधना देखने को मिलती है उसमें लौकिक जीवन की यथासम्भव अस्वीकृति होती है। आप तो लोक जीवन के साथ पूर्णतः जुड़े हुए हैं। आप मूलतः प्रसाद, निराला और पन्त की भाँति अपने काव्य लोक में जीवन

की यथार्थता को अपनी भावना और कल्पना से अभिरंजित करके प्रस्तुत करते हैं। आपकी काव्य-रचनाओं में इसीलिए नैसर्गिक शोभा के सभी रूपों के प्रति स्नेह की भावना देखने को मिलती है। लेकिन धीरे-धीरे आपका कवि मौन होता गया है और लोक-जीवन की अनुभूतियों को लेकर एकांकी और अनेकांकी लिखने में आप संलग्न हो गये। महादेवी जी के साथ भी तो बंगाल के अकाल के बाद कुछ ऐसा ही परिवर्तन आया है। डॉ० वर्मा ने थोड़े समय तक इस विषय में मुझसे कुछ तर्क-वितर्क किये थे, लेकिन बाद को मेरी बात मान ली थी।

वर्मा जी से फिर मैंने कहा था कि आप इधर कुछ लोकपरक कविताएँ भी तो लिखते रहे हैं उन्हें भी सुनना चाहूँगा। डॉ० वर्मा ने तब उसके बाद कहा था–

"विश्वनाथ तुम्हें शायद विस्मय होगा मैंने ९-१० वर्ष की आयु में ही कविता लिखना आरम्भ कर दिया था। मेरी पहली रचना में स्वदेशानुराग को अभिव्यक्ति मिली थी। कालान्तर में मैं गान्धी जी के असहयोग आन्दोलन में भी सम्मिलित हुआ था और हाथ में झण्डा लेकर अपना लिखा एक राष्ट्रभक्ति का गीत गाते-गाते मेरी गिरफ्तारी हुई थी और मैं जेल भी गया था। उसके बाद मैंने कई वीर आख्यानक छोटे-छोटे काव्य भी लिखे थे।"

यह सुनकर मैंने उनसे कहा था कि आप अपनी कोई स्वदेशानुराग की रचना सुनाइए। उनकी वाणी से तब एक वीर भावना की रचना अजस्र झरने सी प्रवाहित हो उठी थी जिसने मेरे मन को विशेष रूप से छुआ था। उसमें जनसाधारण को लोक-निर्माण में तत्पर करने के लिए बड़ी सशक्त प्रेरणा थी।

डॉ० वर्मा ने दूसरे दिन अपने दो कथा-काव्यों 'एकलव्य' और 'उत्तरायण' की चर्चा की थी। उन्होंने कहा था कि एकलव्य का प्रसंग उन्हें उस बालक के प्रति सर्वथा अन्यायपूर्ण लगा था, अतः उन्होंने उस पर सहानुभूति की दृष्टि से लिखना आवश्यक समझा। इसी प्रकार 'सीता के परित्याग' का प्रसंग भी उन्हें कुछ रुचिकर नहीं लगा था, अतः उन्होंने वाल्मीकीय रामायण, अध्यात्म रामायण, अद्‌भुत रामायण आदि को पढ़कर वह प्रसंग फिर से लिखा है। डॉ० वर्मा ने संस्कृत ग्रन्थों में रामकथा जिस रूप में देखने को मिलती है, उसकी बड़े विस्तार से चर्चा की थी। मैं यह जानकर बड़ा विस्मित हुआ था कि संस्कृत में रामकथा की जो लम्बी परम्परा रही है, उसका उन्होंने बड़ी गम्भीरता से अनुशीलन किया है। कुछ प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं के रामकाव्यों की भी उन्होंने चर्चा की थी। मैं विस्मित था, यह जानकर कि रचनात्मक साहित्य में पूरी निष्ठा के साथ संलग्न होते हुए भी, वे किस प्रकार अध्ययन-अनुशीलन के लिए समय निकाल लेते हैं।

डॉ० वर्मा ने उन्हीं दिनों एक दिन मुझसे कहा था कि उन्होंने मेरा डी० लिट् का शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव' पढा है। उनकी नाटकीय रचनाओं पर पाश्चात्य प्रभाव

की जो चर्चा की गयी है, वह उन्हें बहुत सही लगी थी। मैंने तब उनसे पूछा था कि आपके एकांकी 'औरंगजेब की आखिरी रात' पर मैंने इयोजीन ओ' नील के नाटक 'द इम्परर जोन्स' के प्रभाव की जो चर्चा की है, उससे आप कहाँ तक सहमत हैं?' उन्होंने कहा था कि उसी से उन्हें प्रेरणा मिली थी कि औरंगजेब की आखिरी रात के विषय में लिखा जाये। ओ' नील ने स्वयं अपने व्यक्तिगत जीवन के नहीं, अपने जातीय जीवन के प्रसंगों को हो बड़ी विलक्षण नाटकीय विधि से साक्षात् अवतरित किया है। मैंने केवल पूर्व प्रसंगों का ही शब्दों के माध्यम से मात्र छायाभास जगाया है। मुझे अपने एकांकी में वह विशेष रूप से प्रिय है।

डॉ० वर्मा समय-समय पर मेरे साथ बातचीत से कुछ ऐसे प्रभावित हुए थे कि उन्होंने कहा था, तुम्हें किसी आवासीय विश्वविद्यालय में होना चाहिए था। शायद उन्हीं का शुभाशीष था कि अवकाश ग्रहण करने के बाद १९अगस्त, १९८९ को जब मैं लखनऊ आया तो उसी दिन लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष डॉ० सूर्यप्रसाद दीक्षित ने मुझे बुला लिया और फिर उनके यह कहने पर कि उनके यहाँ एम०ए० द्वितीय वर्ष में नाटक का जो प्रश्न पत्र है; उसे कोई पढ़ाने वाला नहीं है, मैं उसे पढ़ा दूँ। उसके बाद मैं पूरे आठ वर्षों तक लखनऊ विश्वविद्यालय में नाटक का प्रश्न-पत्र पढ़ाता रहा।

एकलव्य : दलित-चेतना का श्वेतपत्र

सुरुचि मिश्र

आज साहित्य में दलित-चेतना की चर्चा आवश्यकता से अधिक हो रही है। उसकी मूलदृष्टि सामाजिक समरसता को कायम न रख सकने वाली व्यवस्था को रेखांकित करना है। इसी अर्थ में यहाँ डॉ० रामकुमार वर्मा के एकलव्य काव्य का मूल्यांकन करना मेरा मुख्य अभिप्रेत है। हिंदी में समर्थ रचनाकारों ने सामाजिक वैषम्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है, इस दृष्टि से हमें तीन रचनाएँ प्रमुख रूप से देखने को मिलती हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा का महाकाव्य 'एकलव्य', डॉ० जगदीश गुप्त का 'शंबूक' और डॉ० देवेन्द्र दीपक का 'हम बौने नहीं'। मगर, आज मेरी चर्चा के केन्द्र में केवल 'एकलव्य' है।

'एकलव्य' प्रतिभा और शौर्य में हस्तिनापुर के राजकुमारों से कहीं आगे है, किन्तु एक वनवासी परिवार में जन्म लेने के कारण उस युग के श्रेष्ठतम आचार्य द्रोण से शिक्षा और दीक्षा प्राप्त करने से वंचित है। ऐसा सामाजिक वैषम्य महाभारत काल में तो था ही, किंतु आज सामाजिक सुधारों के बावजूद अभी भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है। उदाहरण के लिए कुलीन वर्गीय अंग्रेजी माध्यम के विद्यालयों में आज के एकलव्य का दाखिला वैसे ही असंभव है, जैसे द्रोणाचार्य के स्कूल में महाभारतकालीन एकलव्य का प्रवेश असंभव था। प्रतिभा परमुखापेक्षी नहीं होती, एकलव्य इसका जीवंत उदाहरण है। प्रतिभा और समाज में कभी-कभी टकराहट की स्थिति पैदा हो जाती है। देखने में यही आता है कि समाज और सामाजिक व्यवस्थाएँ इतनी जड़ होती हैं कि उनके सामने प्रतिभा भी लाचार दिखाई पड़ती है। कारण कि समाज की मूल चिति लोक है और प्रतिभा की चिति उसका अपना व्यक्तिगत प्रारब्ध और श्रम निष्ठा है। इसी के चलते एकलव्य को उच्च गुरुकुल और श्रेष्ठतम गुरु से वंचित होना पड़ा। डॉ० वर्मा का 'एकलव्य' महाकाव्य एक दलित-पुत्र को तथाकथित कुलीन समाज द्वारा विमुख कर दिए जाने की यथार्थ गाथा है।

छायावादी कवि होने के बावजूद रामकुमार वर्मा का व्यक्तित्व अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी था। वे तत्कालीन समाज से परस्पर जुड़े हुए व्यक्ति थे, एक जागरूक नागरिक थे। वर्मा जी समाज में व्याप्त वर्गभेद को समाप्त कर समता (मानवतावाद) के पक्षधर थे। उनके हृदय में अछूतों के प्रति स्नेहभाव एवं सम्मान की दृष्टि रही है। तभी वे राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के हरिजन आंदोलन से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने गाँधी जी के आन्दोलनों में भाग भी लिया। अछूतोद्धार आंदोलन से प्रभावित होकर वर्मा जी ने महाभारत काल के एक उपेक्षित पात्र को लेकर 'एकलव्य' नामक प्रबंध काव्य की रचना की।

एकलव्य निषाद पुत्र होने के कारण आचार्य द्रोण से धनुर्विद्या की शिक्षा नहीं पा सकता। चाहे आज का समाज हो या महाभारतकालीन समाज, हर युग में राजनीति ही हावी रहती है। इसी के कारण समाज में वर्गभेद बना रहा। वर्मा जी ने अपने इस प्रबंध काव्य में इसको बहुत ही स्पष्ट रूप से चित्रित किया है। जब निषाद पुत्र एकलव्य द्रोणाचार्य से उनका शिष्य बनने का आग्रह करता है, तो आचार्य द्रोण कहते हैं–

'राजगुरु हूँ, विशेष पद की मर्यादा है।
शिक्षा–नीति राज–नीति के पदों है चलती।
शारदा की वाणी यहाँ बोलती है सवर्ण में।
'गुरुकुल' है कहाँ! यहाँ तो 'राजकुल' है।
जानता हूँ, मैंने दिया इसको ही प्रश्रय,
आते सभी राजपुत्र मेरे ज्ञानपीठ में।'[१]

गुरु द्रोण एक अनुबंध में बँधे हुए थे। वे चाहकर भी उस प्रतिभावान बालक को शिक्षा नहीं दे सकते थे। कारण कुलीन वर्ग के लोग शिक्षा पर अपना अधिकार समझते थे। लेकिन यहाँ पर एक प्रश्न यह सामने आता है कि आखिर शिक्षा पर उच्च वर्ग के लोगों का ही अधिकार क्यों है? इससे एक बात स्पष्ट है कि कहीं न कहीं उनमें भय अवश्य ही रहा होगा कि निम्न वर्ग के लोग उनसे आगे न निकल जाएँ। इसीलिए वर्मा जी आगे द्रोणाचार्य से कहलवाते हैं–

'राजपुत्र हीनता को निश्चय प्राप्त होंगे,
जब तुम भूमि–पुत्र उनके समीप हो
एक पंक्ति में खड़े हो, लक्ष्य–वेध सीखोगे।
जाओ, हे निषाद पुत्र! तुम हो अस्वीकृत।'[२]

इस प्रकार एकलव्य के पास शिक्षा प्राप्त करने की प्रबल इच्छा और एक अलग प्रकार का तेज होते हुए भी उसे अस्वीकृत किया जाता है। गुरु की आज्ञा पाकर वह उन्हें ही अपना गुरु मानकर धनुर्विद्या की शिक्षा प्राप्ति का दृढ़ संकल्प करता है–

'जैसी गुरु–आज्ञा। एक क्षण के लिए न मैं,
इस राजकुल में रुकूँगा भूमि–पुत्र हो।
आप गुरु मेरे हैं, रहेंगे सब काल में,
हानि क्या! प्रत्यक्ष नहीं, मेरे मन में तो हैं।

नाम 'धनुर्वेद' सुना श्री-मुख से आपके,
और मुझे चाहिए क्या? साधना तो मेरी है।
चन्द्र की कलाएँ पूर्ण नभ के हृदय में,
चिन्ता क्या, जो रात मेरे जग की अँधेरी है।'[३]

ज्ञान के लिए गुरु का मार्गदर्शन नितांत जरूरी होता है। गुरु के मना करने के बाद उनकी मूर्ति का निर्माण कर एकलव्य अपनी साधना में लीन हुए–

'मूर्ति गुरु द्रोण की है, शिष्य एकलव्य ने,
स्निग्ध चन्द्र-ज्योत्स्ना और तीव्र रवि-रश्मि ले,
सीप-कण-मिश्रित मृदुल रज-कण में,
भैरव हुंकार-पूर्ण नद-जल डाल के,
अथक करों से तथा अनिमेष दृष्टि से,
पूर्ण मनोयोग से सु-योग में बनाई है।'[४]

एकलव्य की निष्ठा और समर्पण के कारण वह मूर्ति इतनी सजीव व मूर्त्त जान पड़ती है कि वे (द्रोण) अपरोक्ष रूप से उस निषाद बालक के शिक्षार्जन में सहायता कर रहे हैं–

'कितनी सजीव-सी है मूर्ति गुरु द्रोण की!
ज्ञात यह होता उसे देखकर सहसा,
सारा धनुर्वेद लेके इस तीव्र दृष्टि-में,
शिक्षा-दान देने को स-तर्क हुए बैठे हैं।'[५]

प्राचीन काल से चले आ रहे हमारे समाज में यह एक विडम्बना ही रही है कि प्रतिभा और लगन होते हुए भी निम्न वर्ग के लोगों को उनकी दीनता का अहसास कराया जाता है, उन्हें दबाया जाता है, उनमें हीन भावना को जगाया जाता है–

'चाहिए संघर्ष ही, मैं सोचता सदैव हूँ,
कैसी यह बात है जो मन में कसकती।
मैंने सुना, विद्या-दान शूद्र हेतु है नहीं,
सत्य है क्या, देव! यह सामाजिक मान्यता?'[६]

समाज में कहीं दलित वर्ग, कुलीन वर्ग के समतुल्य न हो जाए, इसलिए उन्हें सामाजिक और मानसिक दोनों रूपों से प्रताड़ित किया जाता है। तभी आचार्य द्रोण ने इस निषाद पुत्र को

शिक्षा देने से मना कर दिया था–

आपने कहा था उस दिन किस अर्थ में?
'जाओ, हे निषाद पुत्र! तुम हो अस्वीकृत।'
'तुम हो अस्वीकृत' कहा था यह किसने?
आपने या आर्य भीष्म ही की राजनीति ने?
शूद्र धनुर्वेद अधिकारी यदि हो गए,
तो करेंगे क्षत्रियों को रण में पराजित।
क्योंकि अभी क्षत्रियों का मात्र नवोदय है,
और शूद्र भारत के आदिम निवासी हैं।[७]

दलितों के पतन में हमारी राजनैतिक व्यवस्था भी बहुत हद तक जिम्मेदार है–

चाहता था धनुर्वेद सीखना; परन्तु मैं
स्वीकृत न कर सका। आर्य राजनीति का
है विधान–'शूद्र के लिए न विद्या-दान है।'
मैंने समझा दिया उसे विभिन्न रीति से।[८]

एकलव्य जाति से भले ही निम्न है, लेकिन वह भी परमात्मा का अंश ही है, परमात्मा जो कि अंशी है। जब परमात्मा ने ही कोई भेद नहीं किया, तो मानव जाति को क्या अधिकार है कि वह व्यक्ति को जाति वर्ग के अनुरूप बाँटे या उनके गुणों को बाँटे। महाभारत युग में जहाँ शास्त्रों का विद्यार्जन करना केवल क्षत्रियों का कार्य था, वहीं एकलव्य ने उच्च कुल की इस नीति की अवहेलना कर इस कहावत को चरितार्थ कर दिया है कि–'होनहार विरवान के होत चिकने पात।'। गुरु द्रोण भी एकलव्य की धनुर्विद्या देखकर कह उठते हैं–

गुरु द्रोण चौंक उठे–'यह शिष्य कैसा है।'
है तो शूद्र, किंतु जैसे निष्कलंक द्विज है।
बालक निषाद का है, किन्तु तेजोमय है,
जैसे मणिरत्न है विशाल विषधर का।[९]

डॉ० वर्मा ने अछूतोद्धार के लिए 'एकलव्य' को नायक बनाकर उसके जीवन को बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने प्राचीन काल से समाज में व्याप्त इस वर्गगत अन्तर को समाप्त करने का प्रयास किया है। वर्मा जी ने इस महाकाव्य के द्वारा भारतीय जन, गण एवं

मन की उस उदात्त भूमि का दिग्दर्शन कराया है, जहाँ मनुष्य और कुछ नहीं केवल मनुष्य है। जन्मना से कर्मणा को कम महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाना चाहिए। वे इसके माध्यम से लोकमन का संस्कार करते हैं। यही इस कृति की स्वाभाविक चिंता भी है और बीजभाव भी।

संदर्भ

१. एकलव्य– रामकुमार वर्मा, पृ० १२८-१२९

२. वही, पृ० १२९

३. वही, पृ० १२९

४. वही, पृ० १९५

५. वही, पृ० १९५

६. वही, पृ० १९८

७. वही, पृ० १९९

८. वही, पृ० २६५

९. वही, पृ० १२७

संतों की लोकोन्मुखी चेतना

राहुल पाण्डेय

कभी-कभी परम्परा के पुनर्पाठ की आवश्यकता पड़ती है। परम्परा जहाँ एक ओर हमें अतीत गौरव का बोध कराती है, वहीं वर्तमान का विश्लेषण और भविष्य का मार्ग निर्देश करती है। हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल जिसे हम लोकजागरण काल भी कहते हैं, वह आज भी लोकोन्मुखता के लिए पुनर्पाठ की अपेक्षा रखता है। जीवन्त साहित्य या जीवन्त मूल्य कभी बासी नहीं होते। उनका प्रेरक तत्त्व हममें सदैव संजीवनी शक्ति का संचार करता रहता है। आज के इस लोकविमुखता के माहौल में सन्तों की लोकोन्मुखता की प्रासंगिकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

'संत' रूढ़ अर्थ में 'निर्गुनियों' के लिए प्रयोग किया जाता है, किन्तु व्यापक अर्थ में निर्गुण और सगुण दोनों ही सन्त की परिधि के बीच आते हैं। इस संदर्भ में डॉ० रामविलास शर्मा का यह कथन उद्धृत करना चाहूँगा-''संत साहित्य में बहुत से भेद-उपभेद हैं। कोई सूफी है, कोई वैष्णव है, कोई निर्गुणवादी है, कोई शैव है; लेकिन सभी में एक तत्त्व समान है-प्रेम। जायसी, तुलसी, मीरा, कबीर-इनसे प्रेम का तत्त्व निकाल देंगे तो भेद-उपभेद बच रहेंगे, लेकिन उनका मूल स्वर नष्ट हो जाएगा। इसलिए संत और भक्त का भेद करना भ्रम है। सन्तों और जायसी जैसे प्रेममार्गी कवियों में मौलिक भेद करना सही नहीं है।..... कबीर निर्गुणवादी संत हैं तो भक्त भी।..... तुलसीदास भक्त कवि हैं तो संत भी।''[१] हमें लगता है कि संतों के विश्लेषण में डॉ० रामविलास शर्मा की यह अवधारणा अधिक काम की है। हमने यहाँ इसी व्यापक अर्थ में संत का प्रयोग किया है।

भक्ति साधना में आध्यात्मिकता और भौतिकता दोनों तत्त्व विद्यमान हैं। सन्तों ने आध्यात्मिक साधना द्वारा ईश्वर की प्राप्ति का पथ तो बताया ही है, साथ ही साथ उन्होंने इस भौतिक जगत को भी अस्वीकार नहीं किया है। जब हम यह देखते हैं कि 'बड़े भाग मानुष तन पावा' या 'सबार उपरे मानुष सत्य' तो यह कहने में किसी तरह का संकोच नहीं होता कि सन्तों की दृष्टि भगवान और मनुष्य दोनों पर थी। यह मनुष्योन्मुखी दृष्टि ही उनकी लोकोन्मुखता है। वह मनुष्य, जो इस संसार में रहकर नाना रूपों में लौकिक विसंगतियों से संघर्ष कर रहा है। कहीं सामाजिक रूढ़ियाँ हैं, तो कहीं धार्मिक कट्टरता, कहीं आचरणगत-दोष है तो कहीं मनोविकारों की उच्छृंखलता, और इन सबों के ऊपर है सामाजिक संरचना का वह गतिरोधक, जो कदम कदम पर मनुष्य के स्वतंत्र विकास में बाधक है। संतों में न केवल पुरुष संत थे, अपितु नारी सन्तों की भी साझेदारी बराबर बनी रही है। उनकी भी अपनी वैयक्तिक और सामाजिक पीडा की

मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति सन्त काव्य में हुई है। संतों के इस वैशिष्ट्य का विवेचन आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, परशुराम चतुर्वेदी, आचार्य क्षितिमोहन सेन, रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि जैसे मनीषियों ने किया है। डॉ० रामविलास शर्मा ने इसी लोकोन्मुखता के कारण भक्तिकाल को 'लोकजागरण काल' कहा है। यह लोकोन्मुखता ही लोकजागरण की अपनी पहचान है।

मानव समाज में जागरण का ऐसा प्रयास सभ्यता के आदिम युग से ही होता आया है। इसका कारण है मनुष्य की प्रगतिशील चेतना और सामाजिक परिस्थिति का द्वन्द्वात्मक संघर्ष। मनुष्य अपनी परिस्थिति से हमेशा द्वंद्वात्मक संघर्ष करता आ रहा है। यह संघर्ष सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि कई रूपों में हो सकता है। जब परिस्थितियाँ मनुष्य के विकास में बाधक बनने लगती हैं, तब उसकी बौद्धिक चेतना करवट लेती है, और इसी से समाज में जागरण आता है। यह जागरण आध्यात्मिक और भौतिक दोनों दिशाओं में होता है। हिन्दी के मध्यकालीन भक्त कवियों में यह दोनों प्रकार का जागरण दिखाई पड़ता है। भौतिक जागरण के केन्द्र में मनुष्य होता है। मनुष्य को इन विविध परिस्थितियों से मुक्त करने की जो चेतना सन्तों में दिखाई देती है, वही उनकी लोकोन्मुखी चेतना है।

हिन्दी संत काव्य में जो लोकोन्मुखता की प्रवृत्ति है, उसके पीछे एक ऐतिहासिक परम्परा है। वैदिक काल से ही हमारे देश में सन्त महात्मा होते आए हैं, जिन्होंने लोकहित के लिए अपने मतों का प्रचार-प्रसार किया, किन्तु प्रत्येक मत एक काल विशेष के अंतर्गत ही प्रभावशाली रहा। कालांतर में उसमें विकृतियाँ आती गईं और दूसरा मत समाज-सुधार या मुक्ति का संदेश लेकर आ गया। जब कोई मतवाद समाज के वर्ग-विशेष की सीमा में बँधने लगता है, तब धीरे-धीरे उसकी धार कुण्ठित होने लगती है। जनसाधारण से कट कर कोई मत अपना प्रभाव लोक-हृदय में स्थायी नहीं बना सकता। इस प्रकार यह लोकोन्मुखता विविध सोपानों से होती हुई हिन्दी सन्त काव्य में प्रकट हुई। ये विविध सोपान जिनसे छनते हुए लोकोन्मुखता आगे प्रवाहित हुई है, वे हैं वैदिक काल, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, सिद्ध एवं नाथ सम्प्रदाय। हिन्दी के सन्त कवियों ने परम्परागत दोषों और विकृतियों का परित्याग कर जनता की भाषा में एक ऐसा क्रांतिकारी संदेश दिया, जिससे जड़ीभूत धार्मिक विश्वासों की नींव हिल गयी और लोकजागरण का स्वर जनमानस में मुखरित हो उठा।

१४वीं तथा १५वीं शताब्दी के लगभग जनसामान्य की श्रद्धा और भक्ति के भीतर से एक व्यापक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ जो क्षेत्रीयता की दीवारों को लाँघते हुए सिंध, गुजरात तथा महाराष्ट्र से लेकर बंगाल, असम, उड़ीसा तक फैल गया। भारतीय इतिहास और सांस्कृतिक जीवन में यही आन्दोलन भक्ति आन्दोलन के नाम से जाना जाता है। इस आन्दोलन ने सन्तों के

एक नए वर्ग को जन्म दिया, जिसके अगुआ कबीरदास कहे जाते हैं। इन संत भक्तों ने एक ओर तो भक्ति के आधारभूत तत्त्वों के बीच सामञ्जस्य और सद्भाव स्थापित किया और दूसरी ओर भारतीय रहस्यवादी धारणाओं के बीच सामञ्जस्य की सृष्टि की। इनमें रामानंद, नामदेव, कबीर, नानक, दादू, रैदास, तुलसीदास, चैतन्यदेव आदि के नाम प्रमुख हैं। संतों की लोकोन्मुखी वाणी पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी अपनी मुहर लगायी है। वे महात्मा गांधी और टालस्टॉय के साथ सन्तों का भी स्मरण करते हुए कहते हैं–"दादू, कबीर, रज्जब आदि साधुओं ने प्रचार किया है कि जो निर्मल है, जो मुक्त है, जो आत्मा की श्रेष्ठ वस्तु है, उसे रुद्ध द्वार मंदिर में कृत्रिम अधिकारी विशेष के लिए बंद करके नहीं रखा जा सकता; वह निर्विवाद रूप से समस्त मानवों की संपत्ति है।"[२]

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल के शुरू में जिन दिनों इस आंदोलन का विकास हुआ, उन दिनों भारतीय समाज अनेक जातियों और धार्मिक सम्प्रदायों में विभक्त था। आध्यात्मिकता की दृष्टि से भी इस समय देश अनुर्वर था, तथा विभिन्न सामाजिक कुसंस्कारों से जड़ हो गया था एवं उसकी प्रगति लगभग रुक गयी थी। बाहरी आडम्बरों तथा अर्थहीन संस्कारों में उलझा-भटका समाज अपना उद्देश्य खो बैठा था। इसी बीच विदेश से एक ऐसी शक्तिशाली धार्मिक संस्कृति का आगमन हुआ जो भारतीय संस्कृति को हर क्षेत्र में चुनौती दे रही थी। हिन्दुओं के आपसी मतभेद भी पहले से ही जटिल सामाजिक व्यवस्था को और अधिक उलझाते जा रहे थे। मध्ययुगीन संतों ने इस कठिन समय में भक्तिमार्ग को अपनाते हुए विषमताग्रस्त समाज की अन्तर्निहित शक्ति को जाग्रत करने का कार्य किया। समाज की कुरीतियों और अंध विश्वासों को दूर करने के लिए उन्होंने निर्मल भक्ति तथा पवित्र जीवन की बात की। उनकी वाणी में ओज था, सरलता थी, पाण्डित्य का बोझ नहीं था। इतिहास साक्षी है कि उनके उद्देश्यों तथा प्रयत्नों से धार्मिक एवं सामाजिक क्रांति के द्वार खुल गए। उन्होंने समाज को न केवल ईश्वर से परिचित कराया, अपितु धार्मिक-आडम्बरों और सामाजिक-राजनीतिक अत्याचारों से पीड़ित मनुष्य को नवचेतना भी प्रदान की।

संतों के इस संदेश का जनता में काफी स्वागत हुआ। उनकी इस वाणी का प्रभाव तत्कालीन शासकों पर भी पड़े बिना न रहा। जैसा कि डॉ० ताराचंद ने कहा है–"अकबर की दीन-ए-इलाही किसी निरंकुश शासक की ऐकान्तिक सनक नहीं थी, बल्कि यह उन अवश्यंभावी शक्तियों का स्वाभाविक परिणाम था जो भारतीय जनमानस में सागर की तरह उमड़ रही थी और जो कबीर तथा नानक जैसे संतों की वाणी में मुखरित हो रही थी।"[३] इस धार्मिक सामञ्जस्य के लिए सन्तों के अवदान को स्वीकार करते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी कहा है कि–"जिन सब उदारचित्त में हिन्दू-मुसलमान की विरुद्ध धारा का सम्मिलन हुआ है, वे

धर्मसंगत हैं जहाँ भारतवर्ष के यथार्थ मानस तीर्थ की स्थापना हुई है। ये तीर्थ देश की सीमा में आबद्ध नहीं हैं। ये अंतहीन काल में प्रतिष्ठित हैं। रामानंद, कबीर, दादू, रविदास प्रभृति चरित्र में ये सब तीर्थ प्रतिष्ठित हैं। इनके मध्य समस्त विरोध, वैचित्र्य सम्मिलित कण्ठ से एकता की जयवार्ता की घोषणा करते हैं।"[४]

मनुष्य को मनुष्य से अलगाने वाली वर्णव्यवस्था का विरोध और समर्थन भारतवर्ष में बहुत पहले से होता आ रहा है। मध्ययुगीन हिन्दी भक्तिकाल में भी यह व्यवस्था समाज में विद्यमान थी। लेकिन भक्ति आन्दोलन मनुष्यमात्र की समानता घोषित करने वाला एक व्यापक और शक्तिशाली आन्दोलन था। यह आन्दोलन वर्गों और मतमतांतरों में बँटे हुए सामंती समाज-व्यवस्था के विरुद्ध था। कबीर जैसे ठेठ संतों में यह विरोध अपेक्षाकृत अधिक ध्वंसात्मक है।

प्राचीन रूढ़िवाद जहाँ धार्मिक कर्मकाण्ड को महत्त्व देता था, वहाँ यह आन्दोलन प्रेम को भक्ति और मुक्ति का आधार मानता था। कबीर, तुलसी, सूर और जायसी में सामान्य भावधारा इस प्रेम की ही है। प्राचीन रूढ़िवाद जहाँ म्लेच्छ और काफिर, द्विज और शूद्र के भेद को महत्त्व देता था, वहाँ 'जाति पाँति पूछे नहिं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई।' भक्ति आन्दोलन का मूल स्वर था।

भक्ति आन्दोलन श्रद्धा के मानदण्डों को बदल रहा था। श्रद्धा को प्रेम की कसौटी पर कसा जाने लगा। ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से अथवा बड़ा भूस्वामी होने से ही कोई श्रद्धा का पात्र नहीं हो जाता, बल्कि दूसरे के प्रति प्रेमभाव ही एक ऐसा मानक है, जो किसी को श्रद्धेय बना सकता है। कबीरदास ने ऐसे ज्ञान को व्यर्थ माना, जिसमें प्रेम का पाठ न हो–

'पढ़ि-पढ़ि के पाथर भया, लिखि लिखि भया जो ईंट।
कबिरा जा पर प्रेम की पड़ी न एकौ छींट।।'

इसी प्रकार सरहपा के 'पण्डे' की अनुगूँज कबीर के 'पोथी पढ़ पढ़ कर मरने वाले पण्डित' में सुनाई पड़ती है। सरहपा भी कहते हैं–

'आगम बेअ पुराणे, पण्डिया माण वहन्ति।
पक्क सिरीफले अलिय जिमि बाहिरिय भमन्ति।।'

असली कसौटी है प्रेम की, जहाँ शबरी, निषाद और 'जायो कुल मंगन' भूस्वामी अथवा ब्राह्मण पुरोहितों से श्रेष्ठ हो सकते हैं। इस प्रकार श्रद्धा की कसौटी बदलने से सामन्तों और पुरोहितों के प्रभुत्व को भारी झटका लगा और जनजीवन में एक नए उत्साह का संचार हुआ और उनमें भी अपनी प्रगति की संभावना नजर आने लगी। यहाँ शास्त्रीय मत की अपेक्षा संतों ने

लोकहित पर अधिक ध्यान दिया है।

अब रही भारतीय समाज में पारिवारिक जीवन की केन्द्र बिन्दु–नारी की बात। सामंती व्यवस्था में उस नारी को जहाँ विलास और केलि का साधन बना दिया गया है–जिसका प्रतिबिम्ब दरबारी कवियों का नायिका भेद है–और रूढ़िवाद ने, नारी को बहुपत्नी प्रेमी नर की दासी बना रखा था, यहाँ सूर, जायसी, मीरा, तुलसी ने उसके नारीत्व की फिर प्रतिष्ठा की, उसकी मानव सुलभ समानता और व्यक्तित्व की घोषणा की। तुलसीदास ने नारी की पीड़ा को यह कहकर व्यक्त किया–

'कत विधि सृजी नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।।'

रामराज्य में 'एक नारि व्रत सब रतझारी। ते मन वच क्रम पति हितकारी।।'

पतिव्रत पत्नीव्रत के साथ चलता है।

मीरा इस भक्ति आन्दोलन की अनूठी देन हैं। मीरा की कविता नारी के अंतर्मन की उस घुटन और तड़प का प्रतिनिधित्व करती है, जो सदियों से धर्मशास्त्र-विहित विधि-विधानों के चलते नारी के मन में विचरण करती रही थी और जिसे ढोना नारी की नियति बन गई थी। मीरा ने नारी की इस परम्परागत नियति को स्वीकार नहीं किया और उसके खोल से बाहर निकल आयीं। इसके लिए उनपर रूढ़िवादी समाज ने तमाम लांछन लगाए, लेकिन मीरा ने साहस करके, एक बार घर या महल की चारदीवारी जो लाँघी, तो फिर वहाँ दुबारा लौटकर वापस नहीं गयीं। मीरा के लिए कृष्ण के अलावा और किसी पुरुष का अस्तित्व न था। उनकी भक्ति के लिए उन्होंने भय और लज्जा को त्याग दिया। उन्होंने साहस के साथ कहा–

'राणा रूठ्या, णगरी त्यागाँ, हरि रूठा कस जाणाँ,

राणा भेज्या बिखराँ प्याडा, चरणामृत पी जाणा।'

मीरा ने सामंती व्यवस्था में कैद नारी के सामने पराधीनता की बेड़ी को उखाड़ फेंकने का आदर्श सामने रखा। मीरा के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर डॉ० शिवकुमार मिश्र का कहना है–"मीरा समूचे भक्तिकाल में अकेली नारी भक्त हैं, जिन्होंने अपनी आत्मनिवेदनपूर्ण कविता में अपनी भक्ति और अपने प्रेम के माध्यम से, एक पूरी की पूरी समाज-व्यवस्था की असहिष्णु और अमानवीय मानसिकता को, उसकी भेदभावपूर्ण रीति-नीति को, और उसके दोमुँहे चेहरे को बेनकाब किया है।"[५]

सामंती-व्यवस्था ने मनुष्य की सौन्दर्य-वृत्तियों को, उसके अनेक मानव-मूल्यों को जहाँ दबा रखा था, भक्ति आन्दोलन ने उन सबको पुनर्प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। सामंती व्यवस्था ने जहाँ मनुष्य को निष्क्रियता और भाग्यवाद का पाठ पढ़ाया था, भक्ति आन्दोलन ने

राम और कृष्ण के चरित्रों द्वारा जनता को अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध करना सिखाया। भक्ति आन्दोलन ने सन्तों की एक ऐसी जमात खड़ी कर दी जिसमें जुलाहे, अछूत, मुसलमान, ब्राह्मण, नर-नारी सभी ने भाग लिया, और उनकी लोकवाणी लोककण्ठ का हार बन गयी। संस्कृति की ठेकेदारी किसी वर्ण-विशेष या धर्म-विशेष के हाथ में न रही। भक्ति आन्दोलन हमारी जातीयता के अभ्युदयकाल का प्रगतिशील आन्दोलन था। डॉ० रामविलास शर्मा ने भक्ति आन्दोलन को मूलतः 'सामन्त विरोधी आन्दोलन' कहना उचित समझा है।[६]

प्रश्न था इस लोकवाणी की अभिव्यक्ति के लिए भाषा का। संस्कृत धर्म और साहित्य की भाषा थी, फारसी राजभाषा थी और ये दोनों भाषाएँ जनसाधारण के लिए आसानी से समझ में आनेवाली नहीं थी। सन्तों ने जनसामान्य में बोलचाल की भाषाओं को माध्यम बनाया। वस्तुतः जनता का सांस्कृतिक विकास उसकी भाषा द्वारा ही संभव है। जिस समय संस्कृत द्वारा एकता की रक्षा करने वाले पराजित हो चुके थे, उस समय बोलचाल की भाषाओं द्वारा ही संत कवियों ने जनता के जातीय आत्मसम्मान को जगाया और उसकी रक्षा की।

संतों के प्रयास से भाषा और साहित्य के इस ऐतिहासिक विकास क्रम के कारण ब्रज और अवध के क्षेत्र अपना अलगाव दूर करके एक-दूसरे के निकट आ रहे थे। यही कारण है कि सूर के पद केवल ब्रज की सम्पत्ति न रहे, वे ब्रज के बाहर भी गाए जाने लगे। संस्कृत के छन्द गाँव के किसान न गाते थे, वे अब सूर के पद गाते थे। ब्रजभाषा का साहित्य जनसाधारण में प्रचलित हो रहा था और इस तरह विभिन्न जनपदों के लोगों को एक-दूसरे के निकट ला रहा था। अवधी की स्थिति भी कुछ ऐसी ही रही। वह केवल अवध क्षेत्र तक ही सीमित न रही। उसका भी दूर-दूर तक प्रसार हुआ। तुलसीदास द्वारा रचित 'रामचरितमानस' जनपदों का अलगाव दूर करके उन्हें एक दूसरे के निकट लाने का बहुत बड़ा साधन बना। तुलसीदास ने ब्रज और अवधी दोनों में पाण्डित्य के साथ रचना की और यह बात एक ऐतिहासिक सत्य की ओर संकेत करती है कि ब्रज और अवध जैसे जनपदों की जनता एक-दूसरे के निकट आ रही थी। इस प्रकार सन्तों की वाणी ने हिन्दी जाति के विकास में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

हम देखते हैं कि सभी संत कवि वर्णाश्रम व्यवस्था के विरोधी थे और सामाजिक समता एवं एकता के समर्थक थे। ये संत कवि अधिकांशतः निम्नवर्ग के थे, और इन्होंने अपने प्रयास से निम्नवर्ग के लिए धर्म के द्वार खोल दिए। इन्होंने पुरानी रूढ़ियों और मिथ्याडम्बरों का घोर विरोध किया, जैसा कि आदिकाल में सिद्धों और नाथपंथियों द्वारा किया जा चुका था। इनके स्थान पर इन्होंने साधना के क्षेत्र में मन की शुद्धता पर बल दिया। इन सन्त कवियों ने हिन्दू-मुसलमान दोनों के लिए धर्म का आडम्बर-रहित, सरल मार्ग प्रशस्त किया।

चारित्रिक क्षेत्र में इन्होंने आचरण की पवित्रता के साथ-साथ समदृष्टि, भेदभाव के

परित्याग और परोपकार आदि की आवश्यकता पर बल दिया। सन्तों के समूचे चिंतन में सामान्य लोक है जिनकी सार्विक मुक्ति ही उन्हें काम्य है। यह दृष्टि ही उनकी वाणी में मुखरित है, जो उनके लोकोन्मुखता का प्रमाण है। वास्तव में सन्त साहित्य लोकोन्मुखी साहित्य है। जनसाधारण पर भक्ति आंदोलन के व्यापक प्रभाव का उल्लेख करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है कि–"पहली बार शूद्रों ने अपने संत पैदा किए। अपना साहित्य और अपने गीत पैदा किए। कबीर, रैदास, नाभा, सिंपी, सेना, नाई आदि महापुरुषों ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरुद्ध आवाज बुलंद की।"[७] जो काम रूढ़ अर्थ में संत कहे जाने वाले निर्गुणमार्गी भक्तों ने किया, वही काम सगुणमार्गी भक्तों में तुलसी, सूर, मीरा एवं प्रेममार्गी जायसी आदि ने भी अपने-अपने ढंग से किया।

संदर्भ

१. स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य –डॉ० रामविलास शर्मा, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९५६, पृष्ठ ९५।

२. महात्मा गांधी-रवीन्द्रनाथ ठाकुर –विश्वभारती पत्रिका, खण्ड २१, अंक ३-४।

३. मध्यकालीन भारत-खण्ड १ –सं० हरिश्चंद्र वर्मा, पृष्ठ ४८१।

४. विश्वभारती पत्रिका –रवीन्द्र साहित्य में संतचर्चा, खण्ड-२१, अंक ३-४।

५. भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य –डॉ० शिवकुमार मिश्र, अभिव्यक्ति प्रकाशन, संस्करण २००५, पृष्ठ १८१।

६. मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य –डॉ० रामविलास शर्मा, पृष्ठ २५४।

७. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध –गजानन माधव मुक्तिबोध - पृष्ठ ८८।

स्त्री-विमर्श और हिंदी भाषा का पुनर्विन्यास

हनुमान प्रसाद शुक्ल

(१)

तुम्हारे बनाये हुए बाँध को तोड़कर
एक झंझा में फैलने दो
गरजने दो धरती के आर-पार
होने दो मुझे तुमसे
बिलकुल अलग माँ
जाने दो, रास्ता दो *(कन्नड़ कवयित्री एस० ऊषा, पूर्वग्रह-१०४, पृष्ठ ६४ पर उद्धृत)*

समकालीन स्त्री-विमर्श के स्वातंत्र्य-कामी स्वायत्त पंथ की दिशा है यह; आत्मविश्वस्त और आत्मनिर्भर। यह दिशा पुरुषसत्तात्मक व्यवस्था की समस्त निर्मितियों के प्रतिरोध में उससे भिन्न तो है ही; स्वयं स्त्री द्वारा अंगीकृत और पोषित मूल्यबोध एवं आचार-पद्धति से भी अलग है। यों तो भारतीय इतिहास में स्त्री-लेखन और अभिव्यक्ति के साक्ष्य, थोड़े-बहुत व्यवधानों या अंतरालों के साथ, वैदिक ऋषिकाओं द्वारा रचित मंत्रों और सूक्तों, थेरीगाथाओं आदि से लेकर समकालीन परिदृश्य तक देखे जा सकते हैं और यह भी कि स्त्री की स्थिति-प्रास्थिति भी सदैव एक-सी नहीं रही है; परन्तु सामान्यतः पुरुषसत्तात्मक व्यवस्था के दृढ़ से दृढ़तर होने के साथ स्त्री की स्थिति अ-मानवीय होती गयी है, यह निश्चित है। यह स्थिति केवल भारत ही नहीं, दुनिया के सभी प्राचीन और आधुनिक विकसित समाजों में कमोबेश रही है; मातृसत्तात्मक समाज अवश्य इसके अपवाद रहे हैं। इसीलिए समकालीन स्त्री-विमर्श का प्रतिपक्ष पुरुष और पुरुषसत्तात्मक व्यवस्था है। स्त्री-विमर्श की शुरुआत, वैसे तो, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही हो जाती है, पर तब से बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक स्त्री का प्रतिपक्ष पुरुष के बजाय जड़ीभूत रूढ़ियाँ ही रहती हैं; खासकर भारतीय स्त्री-लेखन में।

समकालीन स्त्री-विमर्श यूरोपीय आंदोलनों से प्रेरणा लेकर पिछले कुछ दशकों में पनपा है। शिक्षा और ज्ञान के प्रसार तथा आधुनिक तकनीकी और जीवन-शैली आदि से उसके विकास में मदद मिली है। किन्तु उसका बहुत स्पष्ट एजेंडा नहीं बन पाया है; कारण कि उसकी कोई सुस्पष्ट वैचारिकी या लक्ष्यनिष्ठ वैकल्पिक प्रारूप नहीं है। अभी उसकी अवस्था यूरोपीय नारीवादी आंदोलनों की एक शाखा से अधिक नहीं है। आंदोलन के लिए भी अपनी जमीन अपेक्षित होती है। पुरुषसत्तात्मकता की समानता के बावजूद भारतीय समाज की संरचना और समस्याएँ भिन्न

हैं और वे भी एकरूप एवं एकस्तरीय नहीं हैं। इसीलिए भारत में स्त्री-विमर्श, स्त्री-स्वतंत्रता और उसमें भी सेक्स की स्वतंत्रता (उन्मुक्त यौनाचार) की वकालत बन कर रह गया है; बहुत हुआ तो कभी-कभार यौन-शुचिता के विरुद्ध एक कुंठित विद्रोह तक पहुँच कर शांत हो जाता है। शिक्षा, समता, स्वतंत्रता (मानसिक और बौद्धिक), आर्थिक आत्मनिर्भरता और यूनिवर्सल सिस्टरहुड (भगिनी-भाव) यानी एक व्यवस्थित-वैकल्पिक तैयारी का अता-पता ढूँढ़ना मुश्किल पड़ता है। इस कारण न केवल समूचे विमर्श के विपथन का संकट उत्पन्न हो जाता है; बल्कि वह पुरुष-षड्यंत्र का शिकार होकर देह के आनन्द-पर्व में उन्मद हो रम जाता है। भारत में स्त्री-विमर्श का यह सर्वाधिक विडंबनापूर्ण पहलू है; यद्यपि इस पक्ष के पैरोकार कहते हैं कि जब सारी बंदिशें स्त्री की देह पर ही हैं तो स्त्री की आजादी देह की आजादी से ही शुरू होगी। पर इस तरह की प्रवंचना को समझने वाले जब तक हैं तब तक स्त्री-विमर्श के सम्यक् और सही हो सकने की संभावना शेष है। कुर्रतुल एन हैदर का यह कहना बिलकुल ठीक है कि "औरत की आजादी देह से शुरू होगी–यह बात तो कोई मर्द ही कह सकता है।" (उत्तर प्रदेश : मई २००३ अंक; साक्षात्कार, पृष्ठ-१८४) इसी तर्क का इस्तेमाल करते हुए उत्तर-आधुनिक उपभोक्तावादी बाजार ने स्त्री को एक पदार्थ (ऑब्जेक्ट) के रूप में सीमित कर उसकी मानवीयता और गरिमा को दलित और कलंकित किया है। एक और विडंबना भारत में स्त्री-विमर्श की यह भी है कि वह प्रायः नगरीय शिक्षित तथा उच्च मध्य-वर्ग तक सीमित है। अशिक्षित-अल्पशिक्षित तथा निम्न और निम्न मध्य-वर्ग की स्त्रियाँ इस समूचे विमर्श के सरोकारों में प्रायः अनुपस्थित हैं। यह एक बड़ी वजह है जिस कारण यूरोपीय स्त्री-विमर्श का एजेंडा या ब्लू प्रिंट भारत में स्त्री-विमर्श का एजेंडा या ब्लू प्रिंट नहीं बन सकता और यदि बनेगा तो अधूरा और हवाई होगा; विफलता जिसकी नियति होगी। उसे अनिवार्यतः उपर्युक्त विडंबनाओं से उबरकर, जमीनी हकीकत को समझने की ईमानदार कोशिश के साथ एकनिष्ठ भाव से अपने लक्ष्य के लिए प्रतिबद्ध होना होगा। इसी बात का अनुसमर्थन एड्रियन रिच के शब्द कुछ इस प्रकार करते हैं–

"यदि हम नारीवाद को एक नैतिकी, एक पद्धति, सोच के एक ज्यादा संश्लिष्ट और इसी कारण मानवीय जीवन की दशा के प्रति ज्यादा उत्तरदायी तरीके के रूप में समझें तो हमें एक ऐसे आत्म-ज्ञान की जरूरत होगी जो केवल संपूर्ण स्त्री-अनुभव के प्रति एक सतत उत्कट अवधान के द्वारा ही विकसित हो सकता है।" (उद्धरण पूर्वग्रह-१०४, पृष्ठ ८५ से साभार)

स्त्री-विमर्श के प्रस्तुत परिप्रेक्ष्य से बहुत-सी स्त्रीवादी लेखिकाएँ असहमत या क्रुद्ध हो सकती हैं। पर यहाँ स्त्री-विमर्श पर कोई निर्णायक या अंतिम निष्कर्ष प्रस्तुत करना लक्ष्य नहीं है; लक्ष्य केवल उसके अनिवार्य प्रभाव को रेखांकित करना भर है। बहरहाल, भारत में स्त्री-

विमर्श की शक्ति या सीमाएँ जो भी हों, किंतु समकालीन परिदृश्य पर उसके हस्तक्षेप से इनकार करना असंभव है। साहित्य, राजनीति, सार्वजनिक जीवन, समाज-व्यवस्था आदि से लेकर दर्शन और चिंतन सभी कुछ इसके चपेटे में आकर अस्तव्यस्त हो चुके हैं। फिर भाषा भी इससे अछूती कैसे रह सकती है? पर इसके प्रभावस्वरूप भाषा के पुनर्विन्यास का प्रश्न, कम-से-कम हिंदी में, अब तक प्रायः अनछुआ ही रह गया है।

(२)

भाषा मनुष्य-मात्र में अंतर्निहित नैसर्गिक क्षमता है जो व्यवहार/प्रयोग में आकर सामाजिक बन जाती है। इस तरह भाषा अनिवार्यतः समाज-संबद्ध हो जाती है। किसी भाषा का रूप-आकार और बुनावट (पैटर्न) अपने प्रयोक्ताओं के बीच या सामुदायिक स्तर पर निश्चित/निर्मित होती है। इस प्रक्रिया में वह उस समुदाय/समाज की संरचना, मानसिक बनावट (की प्रकृति), मूल्य-बोध और संस्कृति का आत्मसातीकरण करके उसका संधारण करती है। और फिर क्रियात्मक रूप/व्यवहार में उसका संवहन करती है। इसीलिए भाषाएँ केवल सामुदायिक अंतर्क्रिया या संप्रेषण का माध्यम भर नहीं होतीं; बल्कि संस्कृति की संवाहक भी होती हैं। जो भाषाएँ जितनी अधिक विकसित होती हैं; वे उतनी ही अधिक संस्कृतिनिष्ठ भी होती हैं। यह अलग से कहने की जरूरत नहीं कि हिंदी एक संस्कृतिनिष्ठ और विकसित भाषा है। उसके रूप और विन्यास पर, उसके प्रयोक्ताओं की सामाजिक संरचना, सोच, मूल्य-बोध, रूढ़ि और सांस्कृतिक प्रगति (स्थिति) आदि का बहुत गहरा असर है। यानी हिंदी भाषा का विन्यास हिंदी समाज की अनुरूपता में समीकृत माना जा सकता है।

भौगोलिक विस्तार और दूरी के बावजूद हिंदी भाषी समाज में भाषा (बोली) का नैरंतर्य (कांटिनुअम) मौजूद है। इसी कारण बोलियों की विविधता के बावजूद समूचे समाज की भाषा एक है और जरूरत पड़ते ही अपना आधार परिवर्तित करने में उसे बहुत समय नहीं लगता। हिंदी भाषा के विकास की हजार वर्षों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रायः एक जैसी रही है तथा सांस्कृतिक विरासत भी साझी है; छिटपुट रीति-रिवाज भले स्थानीय स्तर पर कुछ अलग हों। हिंदी समाज की जनसंख्या बहुत अधिक है, पर वह बुनियादी मानवीय संवेदनशीलता से वंचित नहीं है। कहने का आशय सिर्फ इतना ही कि अपनी विविधता के साथ हिंदी समाज बहुत-कुछ एक समरूपी समाज है। समय की हलचलों के दबाव जैसे अन्य समाजों पर पड़े हैं; वैसे ही हिंदी समाज पर भी पड़े हैं। फिर भी, वह एक आत्मनिष्ठ या संस्कृतिनिष्ठ समाज अधिक है। कदाचित् उसके पिछड़ेपन या कि प्रगति-पथ पर ठीक ढंग से दौड़ न लगा पाने का यह भी एक कारण है।

प्रस्तुत संदर्भ में, हिंदी भाषा की गठन-प्रक्रिया के हजार वर्षों की अवधि में हिंदी समाज पुरुषसत्तात्मक रहा है और अलग-अलग कारणों से अलग-अलग समय पर दृढ़तर, रूढ़,

अविवेकपूर्ण एवं पुरुषपक्षीय होता गया है। कहीं-कहीं और कभी-कभी वह भयानक रूप से अमानवीय और स्त्री-विरोधी भी हुआ है। पर यहाँ ध्यान दिलाना जरूरी है कि संपूर्ण भारतीय समाज की तरह हिंदी समाज की आंतरिक संरचना भी बहुस्तरीय है। वह नाना जातियों-उपजातियों एवं नस्लों का समवाय है। इस कारण पुरुष-वर्चस्व के प्रभावी होने पर भी कई समुदायों में और कभी-कभी तो सामान्यत: भी मातृसत्तात्मकता के अभिलक्षण झलक जाते हैं। ये अभिलक्षण पुरुष-वर्चस्व की स्थापना प्रक्रिया की ओर बहुत-कुछ संकेतित करते हैं। फिलहाल यह अवांतर प्रसंग होगा। हाँ, यदि हिंदी समाज की पुरुषसत्तात्मकता के मूल-स्रोतों तक जाएँ तो वहाँ परवर्ती जड़ता, मूढ़ता, अनुदारता और अमानवीयता कम-से-कम आज जैसी नहीं मिलेगी; स्त्री को पुरुष की दासी, भोग्य-वस्तु और कैदी बनाने का मध्यकालीन या वर्तमान उपक्रम नहीं दिखेगा। यथार्थ जो भी घटित हुआ, पर स्वप्न या आदर्श ऐसा नहीं था। भारतीय समाज—और हिंदी समाज—अपने स्वप्न को यथार्थ में परिणत करने में विफल रहा; मूल धर्म पर आपद् धर्म प्रभावी रहा। अभीष्ट निष्कर्ष यह कि हिंदी समाज अंतत: एक पितृसत्तात्मक समाज है। इस समाज में स्त्री की स्थिति की परिकल्पना पुरुष के साथ संबंध से निर्धारित है—माँ, बेटी, बहिन, पत्नी आदि; स्वतंत्रता की अर्हता उसमें नहीं मानी गयी। पर यह जरूरी नहीं कि कोई पुरुषसत्तात्मक समाज अपने आचरण में नितांत स्त्री-विरोधी ही हो।

बहरहाल, उत्प्रेरक तत्त्व जो भी रहे हों; हिंदी समाज के पुरुषसत्तात्मक समाज होने के कारण हिंदी भाषा का गठन और संरचना पुरुष-प्रधानता लिए हुए है। इसलिए स्त्री-विमर्श अन्य पुरुष-प्रधान निर्मितियों (कांस्ट्रक्ट्स) की तरह ही भाषा में भी पुरुष-वर्चस्व के विरुद्ध प्रतिरोध करता है। प्रश्न यह है कि भाषा के संदर्भ में स्त्री-विमर्श का एजेंडा क्या है? स्त्री-विमर्श के अन्य संदर्भों का जैसे कोई अंतिम प्रारूप (ब्लू प्रिंट) नहीं है, वैसे ही शायद भाषा के संबंध में भी नहीं है। लेकिन पुरुष के बराबर अधिकार, समतुल्य मानवीय गरिमा, स्वतंत्र अस्मिता तथा समान प्रास्थिति; ऐसे मुद्दे हो सकते हैं जिन पर मतभेद शायद न्यूनतम हों। फिलहाल, इन्हीं मुद्दों को दृष्टिगत रख कुछ उदाहरणों के संदर्भ में हिंदी भाषा के पुनर्विन्यास के प्रश्न को उठाने की कोशिश होगी।

(३)

भाषाविद् इस बात पर प्राय: एकमत पाये जाते हैं कि अधिकांश समानताओं के होने पर भी स्त्री और पुरुष की कुछ भाषायी अभिवृत्तियों यथा—उच्चारण, अभिव्यक्ति के ढंग आदि में नैसर्गिक रूप से अंतर देखा जाता है। सामाजिक स्तर पर अंतर अधिक होने पर यह अंतर और प्रखर हो जाता है। जीवंत समाजों की भाषाएँ अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक विलक्षणताओं को स्पष्ट रूप से परिलक्षित करती हैं। देखना यह है कि हिंदी भाषा एक सामाजिक निर्मिति

(कांस्ट्रक्ट) के रूप में इस अंतर को किस तरह संधारित और अभिव्यक्त करती है तथा उसे पुनर्विन्यस्त करने की दिशा या रास्ता क्या हो?

हिंदी समाज में स्त्री की स्थिति पुरुष-निर्भर और पुरुष-संबद्ध होकर ही है। उसकी स्वतंत्र अस्मिता या व्यक्तित्व नहीं है। इसे एक उदाहरण से देखें–'सर्वनाम' वाक्य की संघटक इकाई या अवयव है। वाक्य में इसकी भूमिका 'क्रिया' के 'कर्त्ता' की होती है जो 'संज्ञा' का स्थानापत्र होता है। संस्कृत में उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष के तीन वचनों तथा अंग्रेजी के फर्स्ट पर्सन और सेकंड पर्सन के सिंगुलर और प्लूरल नंबर एवं थर्ड पर्सन के प्लूरल नंबर में तो स्त्रीलिंग या पुल्लिंग सर्वनाम एक जैसे होते हैं; किंतु संस्कृत में प्रथम पुरुष के तीनों वचनों तथा अंग्रेजी के थर्ड पर्सन सिंगुलर नंबर में स्त्रीलिंग और पुल्लिंग सर्वनाम पृथक्-पृथक् हैं। इसके विपरीत हिंदी में तीनों पुरुषों के दोनों वचनों में केवल एक ही–पुल्लिंगवाची–सर्वनाम का अस्तित्व है जिसमें स्त्रीलिंगवाची सर्वनाम अंतर्भुक्त है; उसका स्वतंत्र वजूद नहीं है। इसे एक साथ इस तरह प्रदर्शित कर सकते हैं–

भाषा	संस्कृत			अंग्रेजी		हिंदी	
पुरुष/वचन	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	सिंगुलर नंबर	प्लूरल नंबर	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष (फर्स्ट पर्सन)	अहम्	आवाम्	वयम्	आई	वी	मैं	हम
मध्यम पुरुष (सेकंड पर्सन)	त्वम्	युवाम्	यूयम्	यू	यू	तू/तुम	तुम सब
प्रथम/अन्य पुरुष (थर्ड पर्सन)	सः (पु०) सा (स्त्री०)	तौ (पु०) ते (स्त्री०)	ते (पु०) ताः (स्त्री)	ही (पु० मै०) शी (स्त्री० फे०)	दे	वह	वे

इस उदाहरण से मोटे तौर पर एक निष्कर्ष स्पष्ट है कि हिंदी भाषा अपने भाषिक घटकों के निर्धारण में एक व्यक्ति या मनुष्य के रूप में स्त्री की स्वतंत्र पहचान को स्वीकार नहीं करती। उसकी पहचान पुरुष की पहचान में अंतर्भुक्त है। उसकी झलक उसकी क्रियाओं में ही देखी जा सकती है; कर्त्ता के रूप में वह पुरुष का ही अंश है। अतः उसके द्वारा किया गया काम भी पुरुष के काम का ही हिस्सा होता है। वह होती ही है किसी की माँ, पत्नी, बहिन या बेटी; व्यक्ति या मनुष्य नहीं होती। इसीलिए उसके काम का कोई पृथक् मूल्य नहीं होता और न ही वह स्वयं कोई फैसला ले सकती है। बहिन या बेटी तो वह पैदाइशी तौर पर होती है, पर उसकी चरम सिद्धि पत्नी और माँ बनने में होती है। उपर्युक्त उदाहरण संस्कृत और अंग्रेजी भाषियों के समाज में स्त्री की स्वतंत्रता और अस्मिता की ओर कुछ बेहतर संकेत करता लगता है; यद्यपि वे दोनों समाज ही मूलतः पुरुषसत्तात्मक ही रहे हैं।

इसी प्रकार, हिंदी की शब्द-निर्माण-प्रक्रिया में, कुछ अपवादों को छोड़कर, अधिकांश स्त्रीलिंग शब्द पुल्लिंग शब्दों से बनाये जाते हैं; वे स्वतंत्र और पुल्लिंग-निरपेक्ष नहीं होते। कभी-कभी तो उनके अर्थ भी तुलनात्मक रूप से हीनता-बोधक होते हैं। हिंदी में आधार वाक्य-विन्यास भी पुल्लिंग होता है; स्त्रीलिंग वाक्य उसी से व्युत्पन्न होते हैं।

विवाह-संस्था हिंदी समाज में बहुत सुदृढ़ है। इससे जुड़ी शब्दावली स्पष्टत: भेदमूलक है और उसमें पुरुष-वर्चस्व बहुत साफ है। स्त्री के लिए तो वैवाहिक स्थिति के सूचक शब्दों का प्रयोग होता है, पर पुरुष के लिए नहीं। स्त्री यदि अविवाहित है तो कुमारी या सुश्री होगी और विवाहित होने पर श्रीमती; किंतु पुरुष पर विवाह से कोई फर्क नहीं पड़ता, वह उसके पूर्व और पश्चात्-सदैव-'श्री' युत ही रहेगा। विवाह की इच्छुक कोई भी कुमारी तो सौभाग्य कांक्षिणी कही जाएगी, क्योंकि उसका सौभाग्य तो पुरुष से विवाहित होकर ही है। पर पुरुष तो पैदाइशी सौभाग्यवान होता है, इसलिए स्त्री जैसी आकांक्षा से निरपेक्ष होता है। यह उदाहरण प्रस्तुत संदर्भ में हिंदी की विभेदक स्थिति और पुरुषसत्तात्मकता को प्रमाणित करता है। यह स्थिति अंग्रेजी में भी थी। पर वहाँ Miss और Mrs. के लिए Ms. के साझे प्रयोग द्वारा स्थिति को सुधारने का उपक्रम किया गया है। फ्रेंच में ऐसे सुधार के लिए तो फ्रांस में स्त्रीवादियों के एक समूह ने न्यायालय में याचिका भी प्रस्तुत की थी।

प्रास्थिति (स्टेटस) से जुड़े संदर्भों में तो यह विभेद और भी अधिक है। चूँकि समूची व्यवस्था में सभी पद प्राय: पुरुषों के लिए ही आरक्षित-से रहे हैं। अत: उनके लिए निर्धारित संज्ञाएँ भी पुल्लिंग हैं-अध्यक्ष, सभापति, मंत्री, प्रमुख, प्रधान, आचार्य, प्राचार्य, अध्यापक, वैद्य, अभियंता, आयुक्त, निदेशक, राष्ट्रपति, पार्षद, किसान, मजदूर आदि। अंग्रेजी में भी स्थिति कुछ बहुत अच्छी नहीं रही है-चेयरमैन, प्रिंसिपल, चीफ, मिनिस्टर, प्रोफेसर, टीचर, इंजीनियर, प्रेसीडेंट, डॉक्टर, कमिश्नर, डायरेक्टर आदि। बीसवीं शताब्दी में लोकतांत्रिक प्रक्रिया की तेजी के साथ स्त्री-अधिकारों और समानता को जैसे-जैसे स्वीकृति मिली है, इनके लिए विकल्पों की खोज शुरू हुई है। पर अधिकांश शब्द पुल्लिंग शब्दों से निर्मित स्त्रीलिंग ही हैं; कुछ शब्द तो ऐसे भी हैं जिनके स्त्रीलिंग बहुत बेढब हो जाते हैं। दरअसल, जरूरत लिंग-तटस्थ शब्दों के निर्माण और प्रचलन की है। 'चेयरमैन' की जगह 'चेयरपर्सन' का प्रयोग इसकी दिशा है। 'नर्स' जैसे स्त्रीलिंग शब्दों के पुल्लिंग विकल्प का अभाव लिंग-तटस्थ शब्दों की महत्ता और जरूरत को दूसरे कोण से भी रेखांकित करता है। यानी पुल्लिंग का स्त्रीलिंग अथवा स्त्रीलिंग का पुल्लिंग समाधान का मार्ग नहीं है।

स्त्री-विमर्श की दृष्टि से संबंधों की शब्दावली का महत्त्व भी विशेष है। हिंदी में संबंधों की शब्दावली का जहाँ तक संबंध है, नैसर्गिक रिश्तों में वह प्राय: परस्पर (पुल्लिंग-स्त्रीलिंग)

निरपेक्ष है–माता-पिता, भाई-बहन, यहाँ तक कि रक्त-संबंध न होने पर 'पति-पत्नी' भी परस्पर निरपेक्ष है। सामाजिक रिश्तों में यह स्थिति नहीं है, पर आधार सदैव पुल्लिंग ही नहीं होता, स्त्रीलिंग भी होता है। इसका निर्धारक मूल संबंध होता है–मौसी है तो मौसा होगा, बहिन है तो बहनोई (जीजी-जीजा), दादा है तो दादी, चाचा है तो चाची आदि। इसी तरह एक ही रिश्ते में विपरीत लिंगी होते हैं तो आधार पुल्लिंग होता है–पुत्र-पुत्री, भतीजा-भतीजी, भांजा-भांजी, साला-साली आदि। संबंधों (रिश्तों) की शब्दावली, कह सकते हैं कि हिंदी में अपनी सामाजिक-संरचना के अनुरूप है और उसमें काफी संतुलन देखा जा सकता है; पर व्यवहार में पुरुष-वर्चस्व बहुत स्पष्ट रहता है। किंतु इसका दूसरा पक्ष भी उपेक्षणीय नहीं है। माँ, दादी, बहिन के रिश्ते बेहद सम्माननीय होते हैं। पूर्वांचल में पत्नी की बड़ी बहिन का कोई बड़ा महत्त्व नहीं है, पर राजस्थान के कई अंचलों में वह 'बड़सास' (लगभग मातृवत्) होती है। यानी स्त्री की स्थिति बहुत दारुण नहीं है; कदाचित् हिंदी पट्टी में स्त्री-विमर्श के बहुत प्रभावी न बन पाने का यह बड़ा कारण है।

हिंदी समाज की पुरुषसत्तात्मक व्यवस्था और हिंदी भाषा में पुल्लिंग-वर्चस्व के बीच संबंध को रेखांकित करते ये कुछ उदाहरण थे। इनसे स्पष्ट है कि पुरुष-वर्चस्व के बावजूद हिंदी भाषा का विन्यास/संरचना इकहरी नहीं है। इसलिए स्त्री-विमर्श द्वारा उठाये गये मुद्दों के परिप्रेक्ष्य में हिंदी भाषा का विस्तृत और सम्यक् विश्लेषण करके हिंदी भाषा के पुनर्विन्यास का उपक्रम होना चाहिए जिससे हिंदी एक लिंग-तटस्थ और मानवीय गरिमा-संपन्न भाषा बन सके। इस उपक्रम की प्रस्तावना ही प्रस्तुत आलेख की साधारण प्रतिज्ञा थी।

पुण्यस्मरण

(१)

स्व० विजय तेन्दुलकर

सत्यदेव त्रिपाठी

आज विजय तेन्दुलकर हमारे बीच नहीं हैं...इसका दुख तो पूरे नाट्य-संसार को है और हमेशा रहेगा..., पर उनका 'होना' इतना सशक्त व जीवंत है, कि नाट्य-संसार में उनके 'न होने' पर अफसोस करने की बात वैसे ही नहीं है–जैसे तुलसीदास के अनुसार राजा दशरथ के लिए नहीं थी–'सोच जोग नहिं कौसलराऊ, भुवन चारि दस प्रकट प्रभाऊ'...। जी हाँ, नाटककार विजय तेन्दुलकर का भी प्रभाव चौदहों भुवन में विख्यात है। उनकी विश्व-ख्याति का डंका 'घासीराम कोतवाल' ने बजाया था, जो फिर कभी रुका नहीं–'सखाराम बाइंडर', कन्यादान, खामोश अदालत जारी है, अंजी, पंछी ऐसे आते हैं...आदि के रूप में देश-देशांतर में गूँजता ही रहा...। महाराष्ट्र प्रदेश के विविध लोकरंगों के माध्यम से बुने गये 'घासीराम कोतवाल' से तो प्रभावित होकर १९८५ में इसे अंग्रेजी में यूँ तैयार किया गया, कि उसमें चीन, जापान, रूस, सिंहल, मोरक्को व भारत के कलाकारों ने अभिनय किया। अमेरिका के विभिन्न शहरों में १६ शोज़ हुए। स्वयं तेन्दुलकर के ही शब्दों में–"बहुत बड़े पैमाने पर अमेरिकन दर्शकों ने नाटक देखा–अच्छी तरह देखा। बाद में आते उनके 'ओवेशंस' बहुत जोरदार होते थे। हो सकता है कि यह अमेरिकन दर्शकों की आदत हो, पर नाटक के दौरान उनके 'इनवॉल्वमेंट' देखते ही बनते थे। फिर फॉर्म व विषय के बारे में जो बोलते थे, बड़ी समझदारी से बोलते थे...। भाषा की अड़चन भी वहाँ नहीं आयी"। विदेश में यह आलम, तो देश का क्या कहना...!

आरम्भ में तेन्दुलकरजी एक प्रखर पत्रकार-स्तम्भकार रहे। उन्होंने फिल्म व टेलीविजन में भी अपनी विरल प्रतिभा का लोहा मनवाया। गोविन्द निहलानी की फिल्म 'आक्रोश' की पटकथा व संवाद तथा 'अर्धसत्य' के लेखन के लिए 'फिल्मफेयर' व आकाशवाणी एवं दूरदर्शन पर 'प्रोड्यूसर एमरेटस' जैसे प्रख्यात सम्मान उन्हें मिले। दूरदर्शन के लिए वे निर्माता भी बने। और भी बहुत से काम किये...

लेकिन उनका मूल क्षेत्र नाटक ही रहा और मराठी के होते हुए भी हिन्दी में उनके नाटक किसी भी हिन्दी नाटककार से कम न खेले जाते। स्व० गुरुवर वसंत देव जैसा श्रेष्ठ अनुवादक भी उन्हें मिला। असल में हिन्दी में आने के बाद ही तेन्दुलकर, गिरीश कर्नाड व बादल सरकार

जैसे तमाम भारतीय नाटककार राष्ट्रीय स्तर पर जाने गये और फिर अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिजों तक पहुँचे। और इसका श्रेय सबने सहर्ष हिन्दी को दिया भी है। तेन्दुलकरजी को 'सहस्राब्दि का नाटककार' घोषित होने का गौरव हिन्दी में ही दिया गया। इस कीर्ति को अपने कानों सुनने व इसके निमित्त हुए समारोहों को अपनी आँखों देखने का अवसर उन्हें मिला...। विजयजी अपने जीतेजी ही लीजेंड बन गये। हालांकि वे अपनी तारीफ़ सुनना सचमुच पसन्द नहीं करते थे–कई बार ऐसे अवसरों पर उन्हें सभागार से उठकर जाते हुए मैंने देखा है, लेकिन व्यावहारिकता के नाते काफी कुछ सुनना–करना तो होता ही था...।

विदेश और हिन्दी के अलावा देश की तमाम भाषाओं में तेन्दुलकरजी के नाटक खेले गये। सभी नामचीनों ने खेला...और जिसने नहीं खेला, उसने कहीं न कहीं, कभी न कभी बताया ज़रूर कि क्यों नहीं खेला...। यह क्या उनके बड़े नाटककार होने का छोटा प्रमाण है? उल्लेख्य है कि राष्ट्रीय स्तर के जितने भी सम्मान्य पुरस्कार हैं, प्रायः सब उन्हें मिले। 'संगीत नाटक अकादमी' (१९७१), 'सरस्वती सम्मान' (१९९३), 'पद्मभूषण' (१९८४), 'नेहरू फेलोशिप' (१९७३-७४) सर्वश्रेष्ठ नाट्यकृति के रूप में 'शांतता कोर्ट चालू आहे' को 'कमलादेवी चट्टोपाध्याय पुरस्कार' (१९७०) के अलावा मध्यप्रदेश का प्रतिष्ठित 'कालिदास सम्मान', रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय द्वारा डी०लिट० की मानद उपाधि। अपने महाराष्ट्र प्रदेश में तो कतिपय नाटकों को राज्य पुरस्कार व कुसुमाग्रज प्रतिष्ठान के "जन्मस्थान पुरस्कार" के साथ ढेरों मान–सम्मान मिले ही...।

लेकिन उनके जन्म प्रदेश (महाराष्ट्र) ने उन्हें उन 'पुरस्कारों' से नवाजने में भी कोई कसर नहीं छोड़ी, जो किसी भी ज़हीन सर्जक के समक्ष घनघोर चुनौती बनकर खड़े होते हैं, पर अंततः उसे महान् बनने के कारक भी सिद्ध होते हैं। तेन्दुलकरजी के प्रायः सभी नाटक उच्चकुलीन सामंती मूल्यों पर मर्मांतक प्रहार करते हैं, जिसके कारण शुरुआती दिनों में उन्हें घोर उपेक्षा सहनी पड़ी। जब उनके पहले नाटक 'गृहस्थ' (दामू केंकरे निर्देशित) के पहले शो में सिर्फ़ दस-पाँच दर्शकों को देखकर काशीनाथ घाणेकर (जो बाद में सुपरहिट अभिनेता हुए) ने शो करने से इनकार कर दिया, तो तेन्दुलकरजी ने कभी नाटक न लिखने तक की बात सोच ली थी। फिर दामूजी ने ही उनका पहले का लिखा हुआ नाटक खेला–'माणूस नावांचे बेट', जो चल निकला...। और विजयजी का विश्वास बढ़ा, पर प्रबल विरोध का सामना तो उन्हें सतत करना पड़ा...। क्योंकि जैसे-जैसे उनका नाट्यलेखन आगे बढ़ता रहा, सामंती व ब्राह्मणवादी (ध्यातव्य है कि वे स्वयं ब्राह्मण थे) मूल्यों पर आघात धारदार से धारदार होता गया। लोगों की नींदें हराम होती गयीं और तेन्दुलकरजी को अपने जान-माल पर भी हमले झेलने पड़े। ऐसी अराजकताएँ उनके व उनके नाटकों के साथ हुईं और विडम्बना यह कि 'अनार्किस्ट' का तमगा

भी तेन्दुलकरजी पर ही लगा। परन्तु ऐसी अराजकताएँ भी अपने विचारों पर दृढ़ इस कलमकार की आग को दबा न सकीं। और ऐसे पुरस्कार तो साहित्य में (हिन्दी के परसाईजी जैसे) कम ही लोगों को नसीब होते हैं कि एक तरफ विशाल जनसमूह आप की रचनाओं पर फ़िदा है और दूसरी तरफ एक खास मानसिकता की ऐसी नंगई...।

ताज्जुब होता है कि किसी खास पार्टी या संगठन से जुड़े बिना भी अकेलेदम यह लेखक सारे प्रहारों का अविचलित भाव से सामना करता रहा। टूटा नहीं, बिखरा नहीं, वरन लगता है कि उससे शक्ति ग्रहण करता रहा–नीलकण्ठ की तरह। बस, एक बात अवश्य थी कि साठ-सत्तर के दशक वाले उनके समय में आज जितना पतन नहीं हुआ था। हर क्षेत्र–यहाँ तक कि राजनीति में भी–सचाई व मूल्यवता का साथ देने वाले लोग एकदम खत्म नहीं हो गये थे...। लेकिन अब तो न वैसे देवता रहे, न ही वैसा अक्षत। कुछ लोगों का मानना है कि विवाद में बने रहने के लिए ऐसी स्थितियाँ वे जानबूझकर पैदा करते थे, पर यह कयास बेबुनियाद है। सच व मानवीय मूल्यों के प्रति निष्ठा व निर्भयता उनके स्वभाव में थी। उन्होंने कई बार बयान देकर भी नाजायज बातों का खुला विरोध किया...। इस तरह साहित्य की कथनी को जीवन की करनी में उतारने वाले विरल साहित्यकार रहे तेन्दुलकर जी।

यूँ मेरे ख्याल से विजय तेन्दुलकर मितभाषी व काफी संयत स्वभाव के व्यक्ति रहे। उनकी साहसिकता, बेबाकी, ईमानदारी व दृढ़ता निहित रहती–उनकी गम्भीरता में। परंतु उनकी दृष्टि व प्रतिबद्धताएँ बहुत साफ़ थीं। दो छोटे-छोटे, पर प्रत्यक्ष उदाहरण दूँगा...। पहला है–उनसे मेरी पहली मुलाकात का। फोन पर 'जनसत्ता' के लिए मराठी रंगमंच पर एक सीरीज़ लिखने के मक़सद को बताते हुए उनसे समय माँगा, तो 'रंगमंच' का नाम सुनते ही उन्होंने 'हाँ' तो कर दी, पर समय तीन महीने बाद ही मिल पाया, जिस दौरान मुझे पचासों फोन तो अवश्य करने पड़े होंगे...। इंटरव्यू लेने के लिए उन दिनों मैं तेन्दुलकर के बारे में काफ़ी कुछ पढ़ रहा था और उससे यह अहसास बन-सा गया था कि वे हर सामने वाले को परखते हैं। सो, मुझे लगा–शायद परख रहे हों और मैं डटा रहा... लेकिन जब मिला–वे 'सरदार' फिल्म लिखने के लिए एकांतवास में थे, तो वहाँ लगभग डेढ़ घंटे न कोई फोन आया, न कोई मिलने वाला–सिर्फ एक बार मेरे लिए कॉफ़ी देने वाले के सिवा...। समझ में आयी उनकी पद्धति और प्रतिबद्धता। और उन्होंने बताया भी–कि मन तो नाटक में बसता है, इसलिए आप से बात करना ही चाहता था, लेकिन व्यस्तता के कारण आपको बहुत तकलीफ दे दी। मेरे पूछने के दौरान वे सवालों को बड़ी तल्लीनता से सुनते और मेरी तरफ़ देखती हुई उनकी पैनी आँखें मुझे अन्दर तक भेदती हुई महसूस होतीं। मैंने बाल ठाकरे से लेकर श्रीराम लागू तक सैकड़ों लोगों के इंटर्व्यूज लिए हैं, पर ऐसा बेधक अनुभव कभी नहीं हुआ। सवालों के जवाब उन्होंने बड़ी शिद्दत से, बड़ी बेबाकी से,

पर उतनी ही विनम्र गम्भीरता से दिये। उनके आलोक से निकलकर आते हुए का अहसास मुझे अच्छी तरह याद है–मैं वही नहीं रह गया था, जो डेढ़ घंटे पहले अन्दर गया था...उनकी निष्ठा व मूल्यवत्ता से बहुत मुतासिर, बहुत समृद्ध होकर निकला था...।

और दूसरा उदाहरण है–मुम्बई में एन०एस०डी० से निकले लोगों के संगठन 'सांग' के नाट्योत्सव के उद्घाटन समारोह का...। तेन्दुलकरजी मुख्य अतिथि थे। संयोगन वही मेरा अंतिम अवसर सिद्ध हुआ–उन्हें देखने-सुनने का...। समारोह देर से शुरू हुआ और कारण बना था–ओम पुरी, राज बब्बर, पंकज कपूर आदि का इंतज़ार जिन्हें वहाँ उत्कृष्ट रंगकर्म के लिए सम्मानित किया जाना था। अपने उद्घाटन भाषण में तेन्दुलकरजी ने कहा–'स्टारों को सम्मानित करते हुए हमें स्ट्रग्लरों को नहीं भूलना चाहिए'...। बड़ी विनम्रता से सहज ही समझा दिया उन्होंने अपने मंतव्य तथा एक गम्भीर असलियत को–कि जो लोग संघर्ष करके नियमित थियेटर कर रहे हैं, उन्हें छोड़कर इस रंग-कला के मंच से टी०वी०-फिल्म के उन स्टारों को सम्मानित करना बेमानी है, जो बीसों वर्षों से थियेटर करने तो क्या, देखने तक नहीं आते। यह बात तो सबके मन में चल रही थी, पर उनके कह देने के बाद खुल सकी और तभी मैं इसी उक्त वाक्य को अपने लेख का शीर्षक बनाकर आसानी से उजागर कर सका...।

ऐसा सब देख लेने की तेज नज़र उनके पास थी, जिससे वे नये से नये नाटककार-निर्देशक के काम को देखते ही नहीं, बड़ी सटीक व स्पष्ट प्रतिक्रिया भी देते थे। उनकी इस नज़र व सक्रियता का कायल रहा है यह ज़माना और जिसके चलते वे थियेटर-जगत में चलती हर कारगर गतिविधि को जान लेते थे। फिर करणीय को करने का भी भरसक प्रयत्न करते थे। जब वे असाध्य रोग से ग्रस्त होकर पूना के 'प्रयाग' अस्पताल में पड़े थे, मुम्बई के मराठी रंगपटल पर घटी एक घटना को लेकर उससे सम्बद्ध रंगकर्मी को फोन करके पूना बुलाया। अपनी प्रतिक्रिया तो व्यक्त की ही, अपने प्रतिकार का निर्णय भी सुनाया–उस संगठन से वे कभी सक्रिय रूप से जुड़े थे। यह सुनकर मैं उनकी प्रतिबद्धता व सरोकार को बस, सलाम ही कर सका। इसके चन्द दिनों बाद ही उनका अवसान भी हो गया...।

ऐसी ही तेज नज़र, ऐसी ही सरोकारजन्य प्रतिबद्धता और इससे अधिक बेबाकी से बने हैं तेन्दुलकरजी के नाटक। हर नाटक किसी ज्वलंत सामाजिक समस्या से बावस्ता हैं। पुरुष व उच्च वर्ग द्वारा निर्मित समाज में मुख्यत: नारी व अंशत: पिछड़ों के साथ होते अत्याचार उनके नाटकों के मुख्य स्वर रहे हैं। एक तरह की राजनीतिक चेतना का धागा सबमें पिरोया हुआ देखा जा सकता है। और सेक्स का आधार व मारक आक्रामकता (हिंसा) का नाट्यमय व्यवहार इस स्वर के स्वरूप व दिशा के नियामक होते हैं। 'श्रीमंत' में कुमारी के माँ बनने की समस्या है, तो 'गिधाड़े' में इसके साथ अन्यान्य पेचीदे मसले भी हैं। दोनों ही प्रतिष्ठित उच्च वर्गीय परिवार से

बावस्ता हैं। 'अंजी' में सयानी व अपने पैरों पर खड़ी लड़की की शादी को लेकर, तो 'खामोश, अदालत जारी है' में एक स्त्री के स्वातंत्र्य को लेकर पूरे समाज की खबर ली गयी है। इसी को 'कुत्ते' में अलग तरह से उठाया गया है। 'जात ही पूछो साधु की' में शिक्षा-क्षेत्र को आधार बनाकर पिछड़ी जाति के माध्यम से प्रेम-प्रसंग के बीच जातीय भेद की नृशंसता का खुलासा हुआ है, तो 'कन्यादान' में दलित जीवन की पीड़ा के साथ उसके अंतर्विरोधों को उघाड़ते हुए दलितोद्धार की सुधारवादी मानसिकता की भी पोल खोली गयी है। और इन सबका समुच्चय है–'घासीराम कोतवाल'। फिर दूसरा समुच्चय है–कमला, जिसमें नारी-पुरुष व दलित के साथ थोड़ी मुखर राजनीति को मिलाकर पत्रकारिता जगत् के जरिए बात कही गयी है। इनसे थोड़ा अलग स्थित है–'सखाराम बाइंडर', जिसमें एक सामान्य वर्ग व स्तर वाले पुरुष के स्वैराचार का नंगा निदर्शन है। 'बेबी' में बेरोक गुण्डागर्दी से विघटित एक सभ्य परिवार में जानबूझकर बचाये गये भाई का कलेजा हिला देने वाला डर व टूटन तथा बहन के साथ पशुवत सेक्साचार की दिल दहला देने वाली क्रूरता ऐसी भयावह है कि दर्शक के कलेजोदम की भी परीक्षा हो जाती है। इन सबसे अलग मात्र दोपात्री विशुद्ध राजनीतिक नाटक 'हत्तेरी किस्मत' देखकर कोई राजनीतिज्ञ पानी तक न माँगे...।

सेक्स सबमें है, पर नेपथ्य में... मंच पर आता है उसका असर। अधिकांश में नारी ही सेक्सुअल शोषण की शिकार है, जिसे मेल ओरिएंटेड सेक्स के आरोप से नवाजा जाता है। लेकिन चम्पा जैसी नारियाँ इसकी अपवाद भी हैं। यूँ समाज का सेटअप ही ऐसा है कि सेक्स की स्थिति पुरुषपरक ही है, तो तेन्दुलकर कहाँ से लायें फीमेल परिचालित सेक्स-संसार? फिर भी बलात्कार तो एक ही होता है। वहाँ भी दशा यूँ दयनीय है कि बाद में लड़की सोचती है कि इसी रूप में सही, अनुभव तो हुआ सेक्स का। इसमें सेक्स देखना पुनः नादानी ही होगी। इसमें नुमायाँ होती है–व्यवस्था में नारी की बेचारगी-वंचना। और जहाँ भी सेक्स आया है, ऐसे ही किसी न किसी मारक उद्देश्य का सबब बनकर आया है। अतः उस अर्थ में सेक्स-चित्रण यह है ही नहीं। यह तो विरोध का घिसटता हुआ बहाना भर है। बहरहाल, यही उक्त विवेचित नाटक ही प्रायः वे प्रमुख व प्रखर नाटक हैं, जिन्होंने तेन्दुलकर को 'विजय तेन्दुलकर' बनाया है और जिनके आधार पर सारा मूल्यांकन-विश्लेषण होता है। इनमें हिंसा का नज़ारा देखना हो, तो 'बेबी' में प्रत्यक्ष व खौफ़नाक हिंसा है। 'गिधाडे' में पेट फाड़कर गर्भ निकाला जाता है। 'कन्यादान' में ज्योति के गर्भ पर उसका दलित पति अरुण लात मारता है। 'ख़ामोश, अदालत...' की वेणारे बाई के, समाज की दृष्टि से नाजायज, गर्भ को गिराने का फैसला होता है। 'बाइण्डर' में तो हत्या ही होती है। 'घासीराम' में उपभोग के बाद स्त्री को हमेशा के लिए सुला देना, नाना की सामंती जीवन-शैली ही है। इन सबके पीछे भोग की कामना व प्रायः सेक्स ही है–कहीं साफ़, तो कहीं

संकेतित। लेकिन इन सबमें जातीय उच्चता, पुरुषत्व व सत्ता का अधिकार भाव, भोग-लिप्सा एवं तथाकथित नैतिकता ही वे कारक तत्त्व हैं, जिनसे नाटककार की लड़ाई है इन पर इतना निर्मम प्रहार कि ये टैबूज टूटें ही नहीं, तहस-नहस हो जायें, की मंशा ही लेखक का इष्ट है। इनमें सड़ी-गली मान्यताओं व जर्जर हो चली परम्पराओं को तोड़ फेंकने का जज्बा है सबका आधार बनती जड़ विवाह-व्यवस्था व जातिप्रथा को तोड़ देने की ईमानदार कोशिश है पर कहीं इन रूढ़ संस्कारों से चिपके लोग कर नहीं पाते (सखाराम की लक्ष्मी), तो कहीं समाज के क्रूर नियंता अपने खौफ़ से ऐसा करने नहीं देते (खामोश की वेणारे बाई को)। और यही सब विजय तेन्दुलकर के नाटकों का मकसद है। पर कहीं यह सब मकसद की तरह कहा नहीं जाता। हाँ, नाटकों की घटनाएँ ऐसी धक्कामार नाटकीय समक्षता से पेश होती है कि इन इंसानी पशुताओं का निश्चित उच्छेदन दर्शकों के मन में बैठ जाता है। परंतु इस प्रक्रिया व इन असर तथा नाटकीय क्रियाव्यापार के कौशल को न समझ पाने वाले तमाम लोग इन नाटकों को कथ्यविहीन व उद्देश्यरहित भड़काऊ घटनाओं का संयोजन मात्र कह देते हैं। उनकी बुद्धि पर तरस खाने के सिवा भला क्या कहा जा सकता है!!

असलियत यह है कि तेन्दुलकर के नाटक इतने अधिक मकसद केन्द्रित हैं कि शुरुआत में तो इसीलिए नकारे गये कि इनमें मनोरंजन का तत्त्व गायब ही हो गया। उस समय रंजन-कर्म को साकार करता हास्य नाटकों का बोलबाला भी था और सन्देश या सरोकार भी मनोरंजन की चासनी में ढालकर ही आ सकता था-आता था। तेन्दुलकरजी ने उसमें से निकालकर मराठी नाटकों को वैसे ही निर्मम यथार्थ से जोड़ा, जैसे प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यासों को जासूसी-अय्यारी की दुनिया से निकालकर जीवन से जोड़ा। सो, इस प्रयोग को लोग गले ही न उतार पाये। उस पहले नाटक में उँगलियों पर गिने जाने जितने दर्शकों के आने का एक कारण यह भी था। लेकिन यह भीषण प्रयोग तेन्दुलकरजी ने पूरी हिम्मत व शिद्दत से किया कि इन कड़वी हकीकतों को देखो, समझो और इस कड़वाहट के यथार्थ से रू-ब-रू होओ, ताकि समाज में कहीं कुछ हिले-बदले... नाटक का उद्देश्य हास्य में मस्त करके सुलाना मात्र नहीं, वरन् झिंझोड़कर जगाना भी है। उनके आविर्भाव का समय १९५०-५५ का है, जो आजादी मिलने के बाद की अपेक्षित जागृति का समय भी है। इस सोद्देश्य नाट्यप्रयोग को कम ही समय में आम दर्शक द्वारा स्वीकार किया गया, जबकि तमाम समानधर्मी समीक्षक व नामचीन सत्ताधारी लोग इसे इस या उस कारणों से नकारते ही रहे...जिनकी मूल वास्तविकता वही थी कि उसमें उनके अपने असली चेहरे दिखायी पड़ते थे और उसे वे देख नहीं सकते थे...।

उक्त वर्गीय विरोध के साथ नकार व अड़ंगे सेंसर की तरफ़ से भी आये-इतने कि एक ऐसा लेख सिर्फ़ इसी मुद्दे पर लिखा जा सकता है। पर यहाँ टोकेन के रूप में सिर्फ़ 'गिधाडे' की

बात कहकर आगे बढ़ूँगा...। सबसे पहले तो उसे करने के लिए कोई नाट्यसमूह व निर्माता तैयार ही न होना था। आश्चर्य न कीजिए कि लगभग ७-८ सालों तक डॉ० श्रीराम लागू जैसे व्यक्तित्व के प्रस्तावों के बावजूद तमामों के साथ 'रंगायन' (पुणे) जैसे रंगमंडल तक ने हिम्मत न की। और जब हुआ भी, तो सत्यदेव दुबे ने निर्माता का दायित्त्व खास तौर पर इरादतन सँभाला और उसके पहले कभी न करने वाले निर्देशन का जिम्मा स्वयं लागू ने लिया, क्योंकि इस नाटक की बेबाक प्रखरता ने उन्हें बेचैन कर रखा था। निर्माण की प्रक्रिया की तमाम बातों को 'कट टु' करके हम सीधे सेंसर पर आयें... सेंसर ने उसमें १५० कट किये। उतना सब करने के बाद तो नाटक बचता ही नहीं। सो, दुबे-लागू ने एक भी 'कट' माने बिना नाटक को मंचित कर डाला। पेशी हुई और आमने-सामने बैठकर इन दोनों कलाकारों ने 'साहित्यकार-कलाकार की स्वतन्त्रता की जानिब से बात की, तो १४८ 'कट' निरस्त हो गये। जो दो बचे, उनमें एक तो कर्त्ताओं ने मान लिया, पर बचे एक में सेंसर की जड़ता का नज़ारा रोचक है। गर्भ गिराने के बाद खून लगी साड़ी में मंच पर आने को वे किसी भी तरह मान न रहे थे। हारकर समझौता यूँ हुआ कि पीले दागों वाली साड़ी में स्त्री मंच पर आती और नेपथ्य से आवाज होती—'कृपया इसे 'लाल' समझें। ऐसे सीरियल दृश्य में इस घोषणा के एकदम उलटे असर की कल्पना कीजिए...और अन्दाज़ लगाइए कर्त्ताओं की मजबूरी का...तथा हद देखिए सेंसर के अहमकपने की...।

हिंसा व वर्गीय चोट के अलावा नाटकों में प्रयुक्त गालियाँ भी विवाद का कारण बनतीं। वर्जित अपशब्द भरपूर आते हैं तेन्दुलकरजी के नाटकों में। किंतु वे इतने ज़रूरी बनकर आते हैं कि यदि 'सखाराम' की भाषा से गालियाँ निकाल दें, तो बचेगा क्या? सखाराम श्रीहीन हो जायेगा। नाटक अति सामान्य हो जायेगा। सुना है कि कहीं गालियाँ निकालकर प्रयोग किया गया, तो चलते शो में दर्शक-दीर्घा से उसके संवादों पर आवाजें आतीं—सखाराम, गाली दे...। असल में तेन्दुलकर के नाटक इस पाखण्डी व्यवस्था पर गाली ही तो हैं, जो पात्रों के मुँह से भी निकल जाती हैं। घर में अपनी बहू-बेटी के पेट चीर देंगे और बाहर से सुसंस्कृत बनने का ढोंग करते रहेंगे। कातिल-अय्याश नाना सत्ताधीश है। ऐसे समाज को गाली देकर ही कुरेदा जा सकता है। तेन्दुलकर के लगभग समकालीन दुष्यंतकुमार को भी ऐसा ही लगा था—'गिडगिड़ाने का यहाँ कोई असर होगा नहीं; आह भरकर गालियाँ दो, पेट भरकर बद्दुआ'। और इस पुराणपंथी समाज के बुरा मानने का तो क्या कहा जाये... तेन्दुलकरजी के गहन अर्थ भरे एक एकांकी 'मादी' का मंचन कर दिया डॉ० लागू व विजया मेहता ने और उसकी सारी अर्थवत्ता को छोड़कर, बस शरीर-स्पर्श को लेकर हंगामा बरपा कर दिया गया...। 'गिधाडे' को तो 'मराठी नाटक और मानसिक विकृति' नामक सेमिनार में एक मुख्य विवेच्य नाटक के रूप में रखा गया। इस

मानसिकता का क्या ही माकूल जवाब दिया है डॉ० लागूजी ने–'गिधाडे' के लोग जन्म से मानसिक विकृति लेकर नहीं आये, ये समाज के सांस्कृतिक पतन के ग्रास बने हुए लोग हैं। अपसंस्कृति द्वारा किया गया इनका विनाश बहुत ही भयानक और दारुण है। रमा और रजनीकांत जैसे सुसंस्कृत लोग आज की नृशंस दुनिया में पिसते जाते हैं, यह सचाई भी उतनी ही दारुण हैं। लेकिन नाटक यह भी बताता है कि यह सब रमा के केवल 'तुलसी-वृन्दावन' से खत्म होने वाला नहीं। सुसंस्कृत होने के साथ बल भी होना चाहिए। बल भी केवल शरीर व शस्त्रों का नहीं, वरन् नैतिक बल, जो कुसंस्कारों को हटाकर सुसंस्कारों को स्थापित करे... तभी गिद्धों का पनपना रुकेगा'।

अपने जीवनमूल्यों की तरह नाट्यमूल्यों को लेकर भी कम विवाद में नहीं रहे तेन्दुलकर। कहा जाता है कि इनके नाटक इतने सधे व सिद्ध हैं, मकसद इतना ठोस व सटीक है कि निर्देशक न कुछ खास कर सकता, न ही कोई दूसरी व्याख्या दे सकता। यह विशेषता जहाँ उनके चुस्त-दुरुस्त कौशल का मानक है, वहीं कुछ निर्देशकों की नाराज़गी का सबब–हमारे लिए कुछ है ही नहीं, तो हम क्यों करें? अनकहे को कहा बनाने का विरल प्रयोग किया तेन्दुलकर ने, जिसके लिए आधे वाक्य कहकर आधे को छोड़ देने का गुर अपनाया। इसे बहुत दिनों तक किसी ने समझा ही नहीं और बहुतों ने कभी नहीं समझा। इसी त्वरा में चरित्रों का विरूपीकरण भी द्रष्टव्य है–सखाराम-लक्ष्मी-चम्पा, अरुण आठवले, वेणारे बाई, अंजी...आदि का। तेन्दुलकरजी इन्हें जिस तरह बनाते हैं–याने पेश करते हैं, वे कुछ और ही दिखते हैं। गाली बकने वाला व औरत को सामान समझने वाला सखाराम अंत तक आते-आते कहीं 'जस्ट व राइट' भी बनकर उभरता है। वेणारे बाई की चरित्रहीनता के बीच से निकलती है–उसकी त्रासदी। इस प्रक्रिया में ही नाटक बनते जाते हैं। जो लोग ऊपरी सतह को ही सच समझ लेंगे, इन पात्रों व नाटकों के साथ न्याय नहीं कर सकेंगे। फिर हर नाटक में नये-नये प्रयोग। एक प्रयोग, दूसरे में दोहराया जाता नहीं मिलेगा। और सब एक से एक नाट्यमय। फिर भी सारे के सारे नाटक यथार्थवादी। कब, कहाँ, कौन-सा प्रयोग आ जायेगा; का कोई अन्दाज़ लगा पाना बेहद मुश्किल। अकेले 'घासीराम' में प्रयोग-बाहुल्य का विलास... नाच-गान से लेकर खाँटी लोक व कीर्तन आदि की कितनी ही शैलियाँ समाहित। अत: कथ्य के स्तर पर भले एक बार नाटककार तेन्दुलकर को किसी टाइप में बाँधा जा सके, पर कलात्मकता को कहीं टाइप्ड कतई नहीं किया जा सकता...।

ये नाटक व इनके पात्र कहाँ से आये? इनके स्रोतों के बारे में तेन्दुलकरजी ने कभी नहीं बताया। पूछने पर यही कहते–मालूम नहीं कहाँ से, पर आये हैं...। 'कमला' तो जगजाहिर घटना पर आधारित है। इस पर जगमोहन मुन्दड़ा ने इसी नाम से फिल्म भी बनायी। 'खामोश' पर सत्यदेव दुबेजी ने बनायी। असली सखाराम से नीलू फुलेजी मिले थे–वाई (सातारा) में। और

यूँ सभी पात्र व नाटक तो खाँटी जिन्दगी से ही निकले हैं, पर लगाने वालों ने पता लगा लिया है कि उनके अधिकांश नाटक किसी न किसी विदेशी नाटक से प्रेरित हैं। कि उन्हें तेन्दुलकरजी ने अपने परिवेश में ढाल लिया है। कि उन सूत्रों को न बताकर वे लेखकीय ईमानदारी से च्युत होते हैं...आदि-आदि। इस कारण भी उनके एक भी नाटक इरादतन न खेलने वाले हिन्दी के नामचीन राष्ट्रीय नाट्य संगठन मुम्बई में भी हैं। पर वे खुलकर कहने की भी हिम्मत नहीं रखते, जो उनकी असलियत की कथा आपोआप कह देता है।

हाँ, इस आरोप में सचाई अवश्य है कि अर्थतंत्र इनके नाटकों में नितांत उपेक्षित है। कोई भी पात्र इससे जूझता नहीं दिखता। फिर अपनी सारी विद्रोही चेतना के बावजूद, ताज्जुब होता है कि 'आपात्काल' का विरोध करते हुए तेन्दुलकर कहीं नहीं दिखते। इससे वे हम जैसे बहुतों की नज़र में उतने ऊँचे नहीं रह जाते, जितने एक नाटककार के रूप में हैं, पर इससे उनके नाटकों पर कोई फ़र्क नहीं पड़ता। उसमें वे महान् हैं और रहेंगे।

हिन्दी में तेन्दुलकरजी के नाटक अब भी लगातार खेले जा रहे हैं, पर पिछले दो दशकों से ही मराठी में उनके नाटकों के मंचन बहुत कम हो गये हैं। इसका सबसे पड़ा कारण तो मराठी में निरंतर लिखे जा रहे अच्छे नाटक हैं, पर इस दौर में फौरी के प्रति झुकाव की एक प्रवृत्ति भी बहुत अहम है, वरना अभी तेन्दुलकरजी के इन प्रचलित नाटकों में भी असीम संभावनाएँ निहित हैं। कुछ श्रद्धावान निर्देशक कहते सुने जाते हैं कि सड़कों पर धन्धा करने वालों पर आधारित 'फुट्पायरीच्या सम्राट' और आवास की समस्या पर केन्द्रित 'चिमणीच्या घर' जैसे कम प्रचलित नाटकों को खेलने की उनकी योजना है। यदि आज की विकसित नाट्य-कला के साथ ऐसे प्रयत्न हुए, जो अभी नाटककार विजय धंडोपंत तेन्दुलकर में बहुत कुछ ऐसा बाकी है, जो मराठी व भारतीय रंगमंच को नयी ऊँचाइयों तक ले जा सकता है...। और आज उनके न रहने पर हम सभी नाट्यप्रेमी इसके साकार होने के मुंतज़िर हैं...।

पुण्यस्मरण

(२)

स्व० रमेश कुमार शर्मा

रामदेव शुक्ल

एक घंटे का भाषण श्रोताओं को कश्मीर के इतिहास, भूगोल से लेकर साहित्य-संस्कृति-कला-सौन्दर्य की जादुई दुनिया में विस्मय विमुग्ध किये रहा। जब भाषणकर्त्ता मौन हुए तो मुझे याद आया कि कश्मीर मेरे लिए विस्मय विमुग्ध करने वाला बिम्ब प्राइमरी पाठशाला से ही रहा है। डल झील में शिकारा। रंगबिरंगे फूलों से भरा हुआ। उन्हीं फूलों के बीच खिली खुली लावण्यमयी कश्मीरी युवती। हेडमास्टर ठाकुर दुबे ने वह तस्वीर दिखाकर बताया–'यह कश्मीर है। कश्मीर को धरती का स्वर्ग कहा जाता है।'

तब से मेरी कल्पना में न जाने कितने रूप रंग धारण करता वह बिम्ब प्रत्यक्ष हुआ उन्नीस सौ अस्सी में। स्वामी विवेकानन्द ने कश्मीर के अनन्तनाग जिले में अछवल मुगल गार्डेन्स के पास नागदंडी आश्रम स्थापित किया था। उसी में मई उन्नीस सौ अस्सी में चल रहे योग शिविर में भाषण देने आए थे, कश्मीर यूनीवर्सिटी श्रीनगर के हिन्दी-संस्कृत-विभागाध्यक्ष डॉ० रमेश कुमार शर्मा। देश-विदेश के लगभग एक सौ सहभागी कश्मीर के विषय में पाए ज्ञान से अभिभूत थे। सभा विसर्जन की घोषणा के साथ मेरा नाम पुकार कर बताया गया कि मुख्य अतिथि प्रोफेसर शर्मा आपसे मिलना चाहते हैं। एक और सुखद आश्चर्य। मिलने पर प्रो० शर्मा ने हार्दिक स्नेह जताते हुए बताया कि उन्हें पूना यूनीवर्सिटी के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित से मेरी कश्मीर-यात्रा की सूचना मिली। आचार्य दीक्षित मेरे गुरु और अभिभावक। उनको मैंने पत्र लिखकर उस यात्रा की सूचना दी थी। उन्होंने अपनी ओर से प्रो० शर्मा को सूचित करते हुए लिखा था कि उसे किसी तरह की सहायता की जरूरत हो तो ध्यान रखेंगे। शर्मा जी ने मुझसे पूछा कि क्या चाहिए। मैंने बताया कि योग-शिविर में बाहरी किसी तरह की सहायता की आवश्यकता है ही नहीं। उन्होंने शिविर के बाद श्रीनगर आने और अपने यहाँ ठहरने का स्नेहसिक्त आमंत्रण दिया। संकोच के साथ मैंने कहा कि मेरे साथ एक विद्यालय के प्रधानाचार्य चन्द्रभूषण मिश्र हैं। वे मेरे सहपाठी हैं। शर्माजी ने हँसते हुए कहा, 'मेरे घर में उनका भी स्वागत है। आप दोनों आइए। दो-चार दिन रहकर कश्मीर-दर्शन कीजिए। हम लोगों को कोई असुविधा नहीं होगी।

शिविर विलक्षण अनुभवों से हमें सम्पन्न बनाकर पूर्ण हुआ। आयोजकों ने हम सबको श्रीनगर के लालचौक पर उतार दिया। प्रो० शर्मा ने अपने घर का रास्ता बता दिया था। पहुँचने का साधन भी। उनके आवास पर पहुँचा। शर्मा जी ने खुले दिल से स्वागत किया। उनकी कश्मीरी युवती पत्नी और तीन चार वर्ष की बेटी लाली अपरिचितों का स्वागत ऐसे कर रही थीं, जैसे उनके सगे आए हों।

उस घर में जीवन सहज सुंदर था। बाहर लॉन की हरियाली, रंगों का उत्सव मनाते विविधवर्णी फूलों के पौधे, लताओं के वितान। घर के भीतर किताबों-पत्रिकाओं से लदी आलमारियाँ। इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अद्यतन वाल्यूम। किसी अन्य हिन्दी के आचार्य के पास हिन्दीतर भाषाओं की इतनी पुस्तकें मैं पहली बार देख रहा था। दो अपरिचित घंटे दो घंटे में परिवार के अभिन्न अंग बन गये थे। भाभी जी कश्मीर की यह मिठाई, यहाँ का यह नमकीन, यहाँ की चाय, यहाँ की सब्जी, कह कर कितना कुछ खिलाती पिलाती जा रही थीं। चुलबुली लाली शर्मा जी को 'ताजी' कह कर संबोधित कर रही थी। पहले यह संबोधन कहीं सुना नहीं था। पूछा, 'यह कश्मीरी' भाषा का शब्द है?' शर्मा जी ठठाकर हँस पड़े। गोद में बच्ची को बिठाकर बोले, 'यह इसी कश्मीरी लड़की का बनाया शब्द है। 'पिताजी' को सहज बनाकर यह मुझे 'ताजी' कहने लगी। हम लोगों को भी अच्छा लगता है।'

मुझे किताबों के चक्कर में उलझा देखकर शर्माजी ने टोका 'यह सब तो कभी भी देख सकते हैं। अभी कश्मीर देख लीजिए।' एक युवक की ओर इशारा करके उन्होंने कहा, 'ये मेरे शिष्य कटारा जी हैं। आप लोगों को श्रीनगर और आसपास के दर्शनीय स्थान दिखायेंगे।' हम दोनों क़टारा जी के साथ तुरंत निकल पड़े। डलझील पर शिकारों-सैलानियों को निहारते शंकराचार्य की पहाड़ी पर चढ़ गये। वहाँ से डलझील और दूसरे दृश्यों को देखते हुए प्रो० शर्मा के भाषण में सुनी लोककथाओं और ऐतिहासिक सूचनाओं से जोड़कर उन सबके महत्त्व का आकलन करते रहे। लौटते समय प्रो० शर्मा के निर्देशानुसार कटारा ने हम दोनों के लिए कश्मीर दर्शन वाली बस में अगले दिन के लिए दो टिकट ले लिए।

शाम को वापस आए तो हिन्दी जगत में अलग-अलग कारणों से प्रख्यात प्रोफेसर देवेन्द्रनाथ शर्मा, पटना विश्वविद्यालय में हिन्दी विभागाध्यक्ष एवं प्रोफेसर विजयपाल सिंह, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष पधारे हुए थे। अगले दिन विश्वविद्यालय मं कोई बैठक थी, शायद चयन समिति की या पाठ्यक्रम समिति की। मेरे भीतर एक गहरा संकोच भर गया। एक साथ इतने मेहमान इन लोगों के लिए कितनी असुविधा उपजायेंगे। मैंने अपने मित्र से परामर्श किया। वे भी सहमत हो गये कि हम दोनों किसी होटल में या कटारा के साथ हॉस्टल में चले जाएँ। मैंने यह बात शर्माजी को एक ओर बुलाकर बता दी। शर्माजी ने मुझे बाँहों में भर

लिया। उसके बाद अलग करते हुए बोले, 'मेरे भाई! बड़ी जगह घर में जितनी जरूरी होती है, उससे ज्यादा दिल में होती है। हमारे घर में बड़ी जगह है और उससे बड़ी जगह दिल में है। आप लोग कहीं नहीं जायेंगे। यहीं रहेंगे। ये आचार्यगण हमारे हिन्दी परिवार के वरिष्ठ हैं। आप लोगों का यहाँ रहना इन लोगों को भी अच्छा लगेगा।' दोनों आचार्यों ने हँसकर शर्मा जी की बात का समर्थन किया। विजयपाल सिंह तो गोरखपुर बराबर आते थे और सबसे खुलकर ही मिलते थे। देवेन्द्रनाथ शर्मा जी गंभीर स्वभाव के आचार्य थे, व्यक्तिगत रूप से मेरा परिचय पहली बार उनसे हुआ था। दोनों ने कहीं न जाने की बात पर स्नेहसिक्त मुहर लगा दी। शर्मा जी ने मेरा संकोच दूर करने के लिए अनेक मनोरंजक लतीफे सुना डाले।

कुछ याद करते हुए उन्होंने कहा, 'कटारा के साथ बाजार जाकर आप लोग कुछ खरीदारी अभी कर लीजिए। कल दिन भर आप लोग घूमते रहेंगे और परसों जाना है। तो अभी बाजार हो आइए।' उन्होंने यह भी बताया कि वहाँ से क्या-क्या खरीदना ठीक रहेगा। कश्मीरी शॉल के अतिरिक्त उन्होंने अखरोट लेने की सलाह दी। उस समय छिलके सहित सात आठ रुपये किलो मिल रहे थे। जब हम लोग चलने लगे तो विजय पाल सिंह ने दस रुपए का एक नोट निकाल कर कटारा की ओर बढ़ाते हुए कहा, 'मेरे लिए भी अखरोट ले लेना।' शर्मा जी ने उन्हें झिड़क दिया, 'जनम भर मलेच्छ ही बने रहेंगे। जरा सोचिए, कश्मीर से सवा किलो अखरोट लेकर किस मुँह से बच्चों के सामने जाइयेगा?' लजाते हुए प्रो० सिंह ने पचास रुपए का नोट निकाल कर दिया। शर्माजी ने मुझसे कहा 'बाजार बन्द हो जायेगा, आप लोग जल्दी जाइए। लौटियेगा तो आचार्य विजयपाल सिंह के किस्से सुनाऊँगा।'

बाजार से लौट कर आने के बाद भोजन पर बैठे विजयपाल जी के किस्से सुनने की उत्सुकता बहुत थी किंतु इतने बड़े आचार्यों को सुनने की मर्यादा में रहना ही ठीक लगा। अपनी ओर से कुछ कहना अभद्रता हो सकती है। भोजन करके ड्राइंगरूप में बैठे। गपशप शुरू हुई। अपनी गंभीरता कायम रखते हुए प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा ने रमेश जी को संबोधित किया, 'आप विजयपाल जी के कुछ किस्से सुनाने वाले थे!' सबसे पहले खुलकर हँसने वाले विजयपाल सिंह ही थे। प्रो० रमेश कुमार शर्मा ने कहा, 'इनकी हरकतें देख कर लोग इनको क्या समझ लेते हैं? आगरे की घटना है। जाड़े के दिन थे। सबेरे सबेरे विजयपाल जी रेलवे स्टेशन से रिक्शा करके हमारे घर आए। ऊपर से ही इनको देखकर मैं बाहर गेट पर आया। ये रिक्शेवाले को रुपए देकर अपना होल्डाल उठाकर अन्दर की ओर बढ़े। रिक्शेवाला ठिठका रहा। मुझे लगा, इन्होंने पैसे कम दिए होंगे, इसलिए उसके पास चला गया। पूछा 'क्या बात है? पैसे कम मिले हैं? और कितने चाहिए!' मुस्कराते हुए उसने बताया, 'पैसे ठीक मिले हैं? लेकिन.....।' वह ठिठक गया। मैंने पूछा, 'तब क्या बात है?' उसने इनकी ओर इशारा करके पूछा, 'साहब कुछ पागल हैं क्या?'

मैंने पूछा, 'तुम्हें ऐसा क्यों लगा?' खुलकर हँसा वह। उसने बताया 'स्टेशन पर साहब ने मुझसे यह जगह बताकर चलने को कहा। मैंने किराया बता दिया। ये तैयार हो गये। होल्डाल रिक्शे पर रख दिया गया। मैंने इनसे बैठने को कहा तो बोले, 'तुम रिक्शा लेकर चलो। मैं पीछे पीछे दौड़ता हुआ चलूँगा। इनकी बात मानकर मैं रिक्शा चलाने लगा। ये पीछे दौड़ने लगे। मुझे डर लगने लगा। ख्याल आया कि होल्डाल में जरूर कोई तस्करी का माल होगा। इसीलिए ये बैठ नहीं रहे हैं। अगर पुलिसवाले पकड़ेंगे तो ये बचकर भाग जायेंगे। मैं पकड़ा जाऊँगा। रास्ते भर मुझे डर लगता रहा। इसीलिए आपसे पूछ रहा हूँ।' विजयपाल जी मुड़कर खड़े हो गये थे। रिक्शेवाले की बात सुनकर बोले, 'मैं इसलिए रिक्शे पर नहीं बैठा कि सबेरे का टहलना हो जायेगा। होल्डाल न होता तो रिक्शा लेता ही नहीं।'

सबेरे कटारा आए और हम दोनों को कश्मीर दर्शन वाली बस पर बिठाकर विदा हुए। हम लोग मुगलगार्डेन्स और बहुत कुछ देखकर शाम को वापस लौटे। बाहरी गेट पर लगी घंटी दबा दी। ऊपर से श्रीमती शर्मा ने हमें देख कर कहा, 'आइए। उन्होंने ऊपर बँधी एक रस्सी को झटका दिया। नीचे दरवाजे के पीछे कुछ खटका हुआ लेकिन हम लोगों की समझ में यह नहीं आया कि दरवाजा खुले कैसे। बाहर खड़े रहे। ऊपर से वे समझ गयीं। नीचे उतर कर उन्होंने सिटकनी खोल दी। अंदर जाकर देखने के बाद मेरी समझ में आया कि उस सिटकनी को खोलने का एक खटका बाहर भी लगा हुआ था। उसे घुमाने पर अंदर की सिटकनी खुल जाती थी। उस सिटकनी के ऊपर एक लॉक लगा हुआ था, जो ऊपर तक रस्सी के सहारे बंद रहता। जब ऊपर से रस्सी खींची जाती तो वह लॉक खुल जाता और बाहर खड़ा व्यक्ति बाहर वाले खटके को घुमाकर सिटकनी खोल लेता। अपने अनाड़ीपन पर झेंप कर रह गया।

अगले दिन सबेरे हम लोगों की बस थी। तैयार होकर मैंने शर्मा जी से कहा, 'फोन करके एक टैक्सी बुलवा लीजिए।' उन्होंने कुछ कहा नहीं। थोड़ी देर बाद उन्होंने आचार्यद्वय से कहा, 'आप लोग तैयार हो जाइए। मैं आधे घंटे में लौटता हूँ, तब नाश्ता करेंगे।' मुझे अटपटा लग रहा था कि इतने बड़े अतिथियों को छोड़कर हम लोगों को विदा करने बस स्टैण्ड जा रहे हैं। कुछ कहूँ, उससे पहले वे हम लोगों के सामानों में से एक बैग उठाकर नीचे उतरने लगे। हम भी उतरे। गाड़ी निकालकर हम लोगों को बिठाकर शर्मा जी बस स्टैण्ड आए। हम लोगों को गाड़ी में ही बैठे रहने का निर्देश देकर वे टिकट ले आए। हम लोगों को बस में बिठाकर, सामान ठीक से रखवा कर वापस गये। रास्ते में और उसके बाद भी मेरे मन में यह बात आती रही कि पहली बार परिचित एक सामान्य व्यक्ति को इतना महत्त्व देने वाला व्यक्ति विद्वता और शील का सुंदर निदर्शन है।

लगभग दो वर्ष बाद श्रीनगर से प्रो० शर्मा का पत्र मिला। वे नेशनल प्रोफेसर के रूप में देश

के अनेक विश्वविद्यालयों में व्याख्यान देने के लिए निकलने वाले थे। मेरे कारण उन्होंने गोरखपुर विश्वविद्यालय का चयन किया था। सम्भावित तिथियों का उल्लेख करते हुए उन्होंने हिन्दी विभाग के अध्यक्ष की अनुमति की अपेक्षा की थी। अध्यक्ष की अनुमति के साथ मैंने उन्हें पत्र भेज दिया। निश्चित तिथि पर वे आए। मेरे पास उन दिनों दो कमरों का छोटा मकान था, इसलिए उनके ठहरने के लिए अतिथि भवन में कमरा आरक्षित करा लिया था। वे लखनऊ होकर बहुत सबेरे की ट्रेन से आ गए। स्टेशन से घर ले आया। उन्होंने कहा कि रात की गाड़ी से लौट जाना है, क्या करेंगे गेस्ट हाउस जाकर। सीधे घर आना हम सबको बहुत अच्छा लगा। नहा-धोकर चाय पी रहे थे। मेरे घर के ठीक सामने सड़क के उस पार ईसाइयों के कब्रिस्तान का गेट था। शर्मा जी ने चाय पीने के बाद उसके भीतर चलने की इच्छा व्यक्त की। उस स्थान पर लगभग एक वर्ष से रहता था। मेरे मन में कभी उसके भीतर जाने का ख्याल नहीं आया। अंदर जाकर पहली अच्छी बात यह लगी कि वहाँ माली काम कर रहा था। साफ सफाई का पूरा ध्यान रखा गया था। अधिकांश कब्रें पक्की थीं। सभी पर कुछ न कुछ लिखा हुआ था। जाने वालों की विशेषताओं को व्यक्त करने वाली पंक्तियाँ थी। परिजनों के शोकोद्‌गार थे। प्रो० शर्मा ठहर कर उन आत्मीय भावोद्‌गारों को पढ़ते। अनेक पर दिवंगत की जन्मतिथि और निधनतिथि अंकित थी। प्रो० शर्मा ने एक कब्र-लेख की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया। जिस तिथि को वह बच्चा जन्मा था, ठीक एक वर्ष बाद उसी तिथि को माँ की गोद उजाड़ कर वह दिवंगत हो गया था। लगभग एक घंटा डॉ० शर्मा वहाँ घूमघूम कर उस तरह के आलेख पढ़ते रहे। उस दिन मैं समझ सका कि कब्रिस्तान में पढ़ने लायक रोचक और मर्मविदारक सामग्री होती है।

विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में उस दिन शर्मा जी का भाषण हुआ। कश्मीरी भाषा, साहित्य, संस्कृति के सूक्ष्म ब्योरों के साथ-साथ राजनीतिक संकट और सामाजिक जीवन की बारीकियों का खुलासा हुआ। कश्मीरी को लेकर सभी के पास सवाल थे। शर्मा जी सबके जवाब देते हुए ज्ञानवर्द्धन कर रहे थे। लगभग तीन घंटे के कार्यक्रम के बाद घर लौटे। भोजन के समय उन्होंने सब्जी के साथ चावल खाया। मैंने पूछा, 'दाल नहीं खायेंगे?' जवाब में उन्होंने दाल उठाकर पी लिया। बोले, 'कश्मीर में रोटी कोई नहीं खाता। वहाँ मांस या मछली के साथ भात ही खाया जाता है। शाकाहारी लोग सब्जियों के साथ भात खाते हैं।

उस दिन शाम का समय शर्मा जी के घर परिवार के विषय में बतकही में बीता। उसी दिन पता चला कि डॉ० रमेश कुमार शर्मा प्रख्यात स्वाधीनता सेनानी, लोकप्रिय शिकार कथा लेखक और कुशल संपादक श्रीराम शर्मा के ज्येष्ठ पुत्र हैं। प्रख्यात पत्रकार उदयन शर्मा उनके अनुज हैं। उनकी बड़ी बहन मालती शर्मा जी विदुषी और तेजस्विनी महिला थीं। शर्मा जी ने बताया कि जब वे दस वर्ष के बालक थे, तभी पिता अँग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह करने के जुर्म में जेल भेज दिए गए।

उनके घर में माँ, बहन और छोटे भाई के अलावा कोई नहीं था। उस समय घर परिवार के जरूरी काम भी नहीं हो पा रहे थे। एक दिन उनकी माँ ने परिवार के हितैषी एक प्रख्यात नेता संपादक साहित्यकार का स्मरण किया। बालक रमेश साहस करके अकेले उनके घर पहुँचे। उन्होंने बाहरी गेट पर बच्चे को देखा। जल्दी उठ कर रमेश के पास पहुँचे। बच्चे ने चरणस्पर्श करके प्रणाम किया। कुछ कहने के लिए मुँह खोल पाता, इससे पहले ही उन्होंने गेट की ओर इशारा करते हुए कहा, 'तुम जल्दी यहाँ से भाग जाओ। यहाँ कोई सरकारी आदमी तुम्हें देख लेगा तो हमारे परिवार पर भी आफत टूट पड़ेगी।'

इस घटना का वर्णन करते हुए प्रो० शर्मा के मुख की रेखाएँ दस वर्षीय बालक की पीड़ा का इतिहास बता रही थीं।

१९३५ की कांग्रेस पार्टी की उत्तर प्रदेश सरकार में मंत्रिमंडल के सदस्य पं० श्रीराम शर्मा १९४२ के भारत छोड़ो आंदोलन के उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के प्रभारी बनाए गये। सारा परिवार उस आंदोलन में कूद पड़ा। सोलह वर्षीय रमेश पुलिस की पकड़ में आ गये। उन्हें ५९ दिन तक पुलिस हिरासत में कठोर यातना दी गयी। पुलिस चाहती थी कि वे परिवार के सदस्यों और परिचितों के विषय में बताएँ। उनसे कहा गया कि सरकारी गवाह बन जाने पर तुरंत उनको रिहा कर दिया जायेगा। असह यातना झेलकर भी उन्होंने मुँह नहीं खोला। उस समय के कानून के हिसाब से एक दिन बाद या तो कैदी को जेल भेजना अनिवार्य था, या उसे छोड़ देना।

शर्माजी ने बताया कि उन्हें आभास होने लगा कि आज रात में ही गंभीर आरोप लगाकर कल जेल भेज दिया जायेगा। यह भी संभव था कि ऐसा अभियोग लगाया जाता कि फाँसी की सजा हो जाती। रात गहराते ही एक चेहरा इनकी कोठरी के बाहर खड़ा होकर इनकी ओर इशारा करता दिखा। उठकर पास आने पर उसने बताया कि वह पुलिस का कर्मचारी है। जब श्रीराम शर्मा मंत्री थे तो उन्होंने उसके ऊपर बहुत बड़ा एहसान किया था। वह जानता है कि कल तक नहीं छोड़े गये तो बहुत बुरा होगा। उस कर्मचारी ने बताया कि वह रात में ही कुछ उपाय करेगा। उसके आने की प्रतीक्षा में सावधान रहना चाहिए।

शर्माजी ने उस रात के भयावह रोमांचक क्षणों को स्मरण करते हुए बताया कि उस पुलिस कर्मचारी ने अपनी नौकरी और अपनी जान जोखिम में डालकर किसी तरह लॉकअप की चाभी हथिया कर उनको बाहर निकाला। घोर अँधेरे में साइकिल पर बिठाकर घर ले आया। उनकी माताजी को जगाकर यह हिदायत देकर चला गया कि दिन निकलने से पहले शहर से जितनी दूर जा सके, बालकों को लेकर चली जाएँ। माँ बेटे तुरंत घर छोड़कर निकल पड़े और देहात में तब तक यहाँ से वहाँ दिन बिताते रहे, जब तक परिस्थितियाँ बदल नहीं गयीं। घर के सभी वयस्क सदस्यों पर उन्हीं दिनों इतिहास प्रसिद्ध मुकदमा चला, 'आगरा षडयंत्र केस, किंग एम्पेरर बनाम

श्रीराम शर्मा एण्ड अदर्स।' बचाव पक्ष के वकील थे कैलाश नाथ काटजू। पुलिस लॉकअप के उन उनसठ दिनों में पुलिस द्वारा दी गयी यातना का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि रमेश कुमार के साथ जो तीन अन्य युवक पकड़े गये थे, उन्होंने सरकारी गवाह बन कर उससे मुक्ति पा ली।

डॉ० शर्मा के ज्ञानगाम्भीर्य का परिचय तो नागदंडी शिविर से ही मिलता रहा, इस यात्रा में उनकी अनेक भाषाओं में रुचि और गति का परिचय मिला। अँग्रेजी, उर्दू, संस्कृत, कश्मीरी, लद्दाखी, बँगला से सम्बद्ध शोध और अनुवाद के महत्त्वपूर्ण कार्य उनके निर्देशन में सम्पन्न हुए। बँगला के प्रसिद्ध उपन्यास 'बिराजबहू' का हिन्दी अनुवाद पाठकों में लोकप्रिय हुआ। उसके अनेक संस्करण छपे। कश्मीरी भाषा में कुछ शब्दों को सुनकर मेरे मन में उन्नीस सौ अस्सी में ही कुछ प्रश्न उभरे थे। इस बार उनपर मैंने चर्चा की। डॉ० शर्मा ने बताया कि कश्मीरी को पैशाची की दरद शाखा से जोड़ने वाला निष्कर्ष आधारहीन है। डॉ० शर्मा ने अपने निर्देशन में कराये गये शोध कार्यों से प्रमाणित कराया कि कश्मीरी का गहरा सम्बन्ध वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, अरबी फारसी से है। वैदिक संस्कृत में 'खुर' पाँव के लिए प्रयुक्त होता था। उस समय वह पशुओं के पैर के अर्थ में रुढ़ नहीं हुआ था। आज भी कश्मीरी में जूता को 'खुरवान' कहा जाता है। संस्कृत अभ्र कश्मीरी में 'अब्र' है। प्रो० शर्मा ने अनेक पत्रिकाओं का सम्पादन करके कश्मीरी भाषा और साहित्य के अज्ञात एवं अल्पज्ञात पक्षों का उद्घाटन किया। रीतिकाल और आधुनिक हिन्दी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन उन्होंने अपने पी-एच०डी० और डी० लिट्० के लिए शोधकार्य के अन्तर्गत किया। छायावादी कवियों की गहरी श्रृंगार-चेतना को प्रभूत उदाहरणों के साथ उन्होंने रीतिकालीन कवियों की श्रृंगार-चेतना की परंपरा के विकास के रूप में देखा। उनके निष्कर्ष तार्किक और मनोवैज्ञानिक रूप में रोचक और स्वीकार्य हैं।

१९४०-१९४१ में अपने पिता श्रीराम शर्मा के साथ रमेश कुमार जी सेवाग्राम में महात्मा गाँधी के निकट सम्पर्क में रहे। उस समय पिता को देश के महान नेताओं पं० गोविन्दवल्लभ पंत, सरदार पटेल, रफी अहमद किदवई, पुरुषोत्तमदास टंडन, कैलाश नाथ काटजू, सी० एफ० एण्डूज के साथ विचार-विमर्श करते देखते सुनते। आश्रम जीवन का प्रभाव उनके ऊपर जीवनव्यापी रचनात्मक प्रवृत्ति के रूप में दिखाई पड़ता रहा। यू०जी०सी० की शोध परियोजनाओं में उन्होंने गान्धीदर्शन एवं उनकी कार्य योजना से सम्बद्ध अनेक शोधकार्य कराए। उसी आश्रम में उन्होंने गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दर्शन किए।

आश्रम जीवन में कुशल नेतृत्व एवं संगठन-क्षमता की दीक्षा मिली। डॉ० शर्मा ने राजनीति का क्षेत्र छोड़कर एकेडेमिक जीवन का चुनाव किया। श्रीनगर विश्वविद्यालय में तेइस वर्ष तक वे हिन्दी एवं संस्कृत विभागों के अध्यक्ष पद पर कार्य करते रहे। कलासंकाय के अध्यक्ष के रूप

में दो बार उनका निर्वाचन हुआ।

अक्तूबर १९८४ में हिन्दी विभाग के एक शोध छात्र की मौखिक परीक्षा के लिए मुझे श्रीनगर बुलाया गया। यह यात्रा अनेक कारणों से अविस्मरणीय है। जिस रात मैं श्रीनगर पहुँचा, उसी रात शर्मा जी बाहर से सपरिवार लौटने वाले थे। मुझे असुविधा न हो, इसलिए मेरे ठहरने की व्यवस्था अतिथि-भवन में की गयी थी। रात के भोजन की व्यवस्था प्रो० ऐमा के घर की गयी थी। प्रो० ऐमा का घर इसलिए चुना गया था, कि उनके घर एक बहू दिल्ली से आई थी, जो रोटी बनाना जानती थी। प्रो० ऐमा विधि विभाग में आचार्य थे। उनकी पत्नी कश्मीरी थी। बहू दिल्ली की थी। मुझे बताया गया था कि उसी ने मेरे लिए रोटी बनाई है। मैंने संकोचवश कहा कि मैं चावल भी खा लेता, अलग से तकलीफ करने की क्या जरूरत थी। वह बहू बोल पड़ी, 'अंकल! आपके कारण आज मुझे भी रोटी नसीब हो गयी, नहीं तो यहाँ रोटी बनती ही कब है।' मेरा कुतूहल देखकर उन लोगों ने बताया कि कश्मीर में भिखारी भी रोटी नहीं खाते। अपनी सास से खुली छूट पाकर उस बहू ने अपना अनुभव सुनाया। जब वह पहली बार कश्मीर आई थी और लगातार भात खाते खाते ऊब गयी तो एक दिन सास की आज्ञा लेकर उसने आटा मँगवाया। आटा गूँध रही थी कि पड़ोसन आती दिखी। सास ने आटे का बर्तन जल्दी से पलंग के नीचे खिसका दिया। बहू को हाथ धोने के लिए अंदर भेज दिया। पड़ोसन चली गई तब सास ने बताया कि अगर वह तुझे आटा गूँधते देख लेती तो पूरी कालोनी में मेरी बदनामी करती कि वह बहू को भूखा मार रही हैं उसके घर में बहू को खिलाने के लिए चावल नहीं हैं। मुझे बँगालियों का एकादशी व्रत याद आया। बंगाल में एकादशी व्रत करने वाले रोटी खा लेते हैं, भोजन करना तो भात खाने से ही सम्पन्न होता है।

अतिथि भवन में चार बजे से पहले मेरी नींद खुली, लाउडस्पीकर पर होने वाली घोषणा से। कश्मीरी भाषा में जोर-जोर से सावधान हो जाने की चेतावनी दी जा रही थी। एक शब्द समझ में आ रहा था 'कर्फ्यू'। मैं कुछ समझ पाता कि रजिस्ट्रार का फोन आया। मैंने उठाया तो उधर से हिन्दी में सुनाई पड़ा, 'शुक्ला जी, मैं रजिस्ट्रार बोल रहा हूँ। कर्फ्यू लग गया है, लेकिन आप घबराइए नहीं। प्रो० रमेश कुमार शर्मा बाहर से लौट आए हैं। वाइवा होगा और आपकी दो बजे की उड़ान भी छूटने नहीं पायेगी। आप आराम से तैयार होकर नाश्ता कीजिए। जैसा होगा, आगे सूचना दी जायेगी। आप घबराइए नहीं।' रजिस्ट्रार का फोन रखते ही शर्माजी का फोन आया। उन्होंने भी यही बताया। अंत में हँसते हुए पूछा, 'कभी कर्फ्यू में घिरने का अनुभव आपको हुआ है?' मैंने कहा, 'कभी नहीं'। शर्मा जी ने कहा, 'चलिए आज उसका भी अनुभव कीजिए। आप इतमीनान से तैयार होइए। आगे का काम हम लोग कर रहे हैं।'

आठ बजे अतिथि भवन के बाहर एक जीप खड़ी हुई। दो तीन पुलिस अफसरों के साथ

प्रो० शर्मा थे। मैं तैयार था। शर्मा जी ने संक्षेप में बताया कि राज्यपाल के विशेष प्रबन्ध के चलते आर्मीवालों ने आपको एयरपोर्ट तक उन्हीं के संरक्षण में पहुँचाने की व्यवस्था की है। रास्ते में पड़ने वाले एक होटल में मौखिक परीक्षा सम्पन्न होगी। उसके बाद आपको एयरपोर्ट पहुँचाया जायेगा। शर्मा जी ने मेरा सामान भी साथ रखवा लिया। यूनीवर्सिटी कैम्पस से बाहर निकलते ही गाड़ी रोकी गयी। एक पुलिस अफसर गाड़ी चला रहे थे। दूसरे किनारे एक अन्य बैठे थे। बीच में मुझे बिठाया गया था। रोकने वालों को उन लोगों ने पूरी बात बताई। तब जाकर उन लोगों ने गाड़ी आगे बढ़ने की अनुमति दी। पूरी सड़क सूनी। दोनों ओर पुलिस के जवान तैनात। जिस शोध छात्र की मौखिक परीक्षा थी, वह अपने घर से निकल नहीं सकता था। शर्मा जी ने इसी गाड़ी से उसे लाने की अनुमति ले ली थी। शोधछात्र को उसके घर से निकालकर रास्ते के होटल तक पहुँचने में तीन घंटे लग गये क्योंकि हर मोड़ पर गाड़ी रोकी जाती। साथ बैठे पुलिस अफसर रोकने वालों को पूरी बात समझाते, तब आगे बढ़ने की अनुमति मिलती। मौखिकी सम्पन्न करके सब लोग एयरपोर्ट पहुँचे तो प्रवेश बंद होने वाला ही था। मुझे अनुमति मिल गयी। दो बजे की उड़ान से मैं दिल्ली पहुँचा। रास्ते में सड़कों पर, आसपास मोड़ों-चौराहों पर पसरा सन्नाटा याद में भय की सिहरन भर रहा था। शर्मा जी समय से श्रीनगर लौट नहीं आए होते और इतनी अचूक व्यवस्था उन्होंने न की होती तो पता नहीं मुझे कब तक उस अतिथि भवन में एकांतवास करना होता।

अगली बार उनसे भेंट हुई १९९० में। मेरे एक शोधछात्र की मौखिक परीक्षा में वे आए। उन दिनों मेरे पास परिवार के एक ही सदस्य थे, मेरे ज्येष्ठ पुत्र सुनील। हम लोग हीरापुरी में रहने लगे थे। शर्मा जी से मैंने भोजन की व्यवस्था होटल में करने की अनुमति चाही। उन्होंने पूछा, 'आप दोनों कहाँ खाते हैं?' मैंने बताया कि सुनील बना लेते हैं। उन्होंने कहा, 'मैं भी उन्हीं का बनाया खाऊँगा।' सुनील को यूनिवर्सिटी जाना था। उन्होंने तीनों के लिए अपनी समझ से रुचिकर भोजन बनाया। आँगन में धूप में भोजन करने बैठे। सुनील ने चावल बनाया था। उसके साथ सेम की रसेदार सब्जी और एक सूखी सब्जी। रोटी दाल में शर्मा जी की रुचि नहीं थी। शर्मा जी ने सेम की सब्जी जल्दी खत्म कर ली। यह मानकर कि उन्हें वह पसंद आ रही है, सुनील ने और डाल दी। शर्मा जी मुस्कराए। बोले, 'यार तुमने तो मुसीबत में डाल दिया। सेम की सब्जी मुझे बिल्कुल पसंद नहीं है। इसीलिए मैंने जल्दी खत्म कर दी। तुमने और दे दी।' हम लोगों ने कहा कि छोड़ दीजिए। दूसरी वाली से ही खाइए। इस पर उन्होंने कहा कि मेरा नियम यह है कि थाली में कोई चीज छोड़कर नहीं उठता। उस बेस्वाद सब्जी को उन्होंने पूरा खत्म किया उसके बाद थोड़ा सा भात दूसरी वाली से खाकर उठे।

मौखिकी सम्पन्न करके हम लोग गीताप्रेस गये। वहाँ किताबें देखते रहे। कुछ खरीद कर

लौटे। उस यात्रा में प्रसंग उनके विवाह का छिड़ गया। शर्मा जी ने बताया कि कश्मीरी कन्या से मेरा विवाह बहुत आसानी से नहीं हो गया। कश्मीरी पंडितों में अति महत्त्वपूर्ण–मुंशी परिवार की हैं विमला जी। शर्मा जी ने बताया कि कश्मीरी पंडित अपनी कन्या पाने योग्य किसी मैदानी ब्राह्मण को नहीं मानते। मुझे १९८० के नागदंडी शिविर का एक अनुभव याद आया। रात के बारह बजे कुछ कश्मीरी ब्राह्मण शिविर में आये थे। ब्राह्मणों के विरुद्ध शेख अब्दुल्ला और उनके उत्तराधिकारियों की दमननीति के अनेक लोमहर्षक प्रसंग सुनाने के बाद उन लोगों ने कहा, "हम लोग भारत के मैदानी ब्राह्मणों को अपनी कन्या नहीं देते थे। लेकिन अब आप लोगों से अनुरोध करते हैं कि अपनी बहुओं के रूप में हमारी कन्याओं को स्वीकार करने का माहौल बनाइए।' मैं मन ही मन संकुचित हो रहा था वह सोचकर कि उत्तर भारत के दहेजलोभी रूढ़िभक्त ब्राह्मणों के घरों में पहुँचकर कश्मीरी युवतियाँ कितनी घुटन महसूस करेंगी। कश्मीरी समाज की दुर्लभ विशेषता है छुआछूत के कोढ़ का पूर्ण अभाव। वहाँ ब्राह्मणों के घरों के यज्ञ–पूजापाठ आदि में भी मुसलमान पूरी सक्रियता से भाग लेते हैं। एक बार मुंशीपरिवार में यज्ञ समारोह में सम्मिलित होकर मैंने यह सुंदर दृश्य स्वयं देखा था। इधर का ब्राह्मण वर्ग सबसे बड़ा धर्म 'चौका धरम' और छूआछूत को मानता है। उन कश्मीरी पंडितों ने बताया था कि कश्मीर घाटी में बाहर का आदमी जमीन नहीं खरीद सकता किंतु मैदानी इलाकों के मुस्लिम युवक यहाँ आकर कश्मीरी मुस्लिम युवतियों से विवाह करके यहीं बस जाएँ, तो वे सभी अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। ऐसा हिन्दू–ब्राह्मण भी करें, यह उनकी सोच थी।

प्रो० शर्मा ने बताया कि जब वे विवाह करने की योजना बना रहे थे, उन दिनों परिस्थितियाँ इतनी विषम नहीं हुई थीं, किंतु वहाँ की संकीर्ण राजनीति से प्रेरित शक्तियाँ उनके विरुद्ध इसी को मुद्दा बनाकर सक्रिय हो गयीं। उन्होंने एक दिन का कटु अनुभव सुनाया। वे अपने विभाग में अध्यक्षीय कार्य कर रहे थे। अचानक हल्ला हुआ और देखते देखते लाठीडंडों से लैस एक भीड़ कमरे में भर गयी। आक्रमण होने ही वाला था कि मेज की दराज से भरी हुई रिवाल्वर निकाल कर मैं खड़ा हो गया। डपटकर मैंने कहा, 'चुपचाप भाग जाओ, नहीं तो इसमें छै गोलियाँ हैं। उतनों को ढेर कर दूँगा। उसके बाद जो होना होगा, होता रहेगा।' सारी गुंडागर्दी सिर पर पाँव रखकर भाग खड़ी हुई।

यहाँ उल्लेखनीय है कि प्रो० रमेश कुमार शर्मा उन विद्वानों में नहीं थे जो छुई मुई बने रहकर नाजुक मिज़ाजी और नज़ाकत को विद्वता का अंतरंग सहचर मान बैठते हैं। १९८० की अपनी पहली कश्मीरी–यात्रा में ही मैंने देख लिया था कि वे नियमित व्यायाम करते थे। उनके पास अनेक प्रकार के विश्वकोश थे तो चेस्टस्पैण्डर (छाती चौड़ी करने वाला मोटे स्प्रिंग से बना उपकरण) भी था। प्रो० शर्मा के आत्मबल की गहरी जड़ें स्वाधीनता संग्राम के संघर्षपूर्ण समय,

पिता और पूरे परिवार के जुझारूपन, ग्रामीण परिवेश के श्रमनिष्ठ जीवन और गुरु डॉ० जगन्नाथ तिवारी के प्रखर व्यक्तित्व तक जाती हैं। शर्माजी के पिता के कुशल शिकारी और सिद्धहस्त शिकारकथा लेखक होने से हिन्दी जगत सुपरिचित है ही। उनके (डॉ० नगेन्द्र, डॉ० विजयपाल सिंह आदि के भी) गुरु प्रो० जगन्नाथ तिवारी की तेजस्विता के अनेक प्रसंगों में से एक यहाँ स्मरणीय है। शर्मा जी ने बताया कि जब तिवारी जी कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर में हिन्दी और संस्कृत विभाग के आचार्य अध्यक्ष बनकर श्रीनगर गये तो आवास की व्यवस्था होने में कुछ विलम्ब हुआ। कुलसचिव, कुलपति आश्वासन देते रहे। तिवारी जी असुविधा झेलते रहे। एक दिन तिवारी जी ने रिक्शे पर अपना बक्शा होल्डाल लदवाया और सीधे राज-भवन चले गये। राज्यपाल के अतिथि कक्ष में पूरे सामान के साथ व्यवस्थित होकर उन्होंने अपना कार्ड भेजते हुए कहलवा दिया कि जब गवर्नर साहब को फुर्सत हो तब मुझे मिलने का समय दे दें। सूचना पाते ही गवर्नर साहब ने मिलने के लिए बुलवा लिया। पूछा, 'क्या बात है? बताइए क्या चाहते हैं?' तिवारी जी ने कहा, 'मेरे लिए आवास की व्यवस्था नहीं हो पा रही है। आपके पास अनगिनत कमरे हैं। जब तक मेरे लिए आवास की व्यवस्था नहीं होती, यहीं एक कमरे में रहूँगा।' गवर्नर साहब ने कुलपति को बुलवाकर उसी समय तिवारी जी को अच्छा मकान दिलवाया।

१९८६ में प्रो० शर्मा श्रीनगर विश्वविद्यालय से निवृत्त होकर आगरा आए। कुछ समय अपने पैतृक आवास में रहने के बाद संस्थान मार्ग की नयी कालोनी गुलमोहर वाटिका में नया मकान लिया। श्रीमती विमला मुंशी धैर्यपूर्वक आग की असह गर्मी झेलती रहीं। गर्मियों में श्रीनगर में उनका बड़ा घर स्वागत करता। इस बीच उन्होंने अपना शोधकार्य सम्पन्न करके के० एम० मुंशी संस्थान में अध्यापन कार्य आरम्भ कर दिया था। प्रो० शर्मा आगरा के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन में सक्रिय होकर नयी ऊर्जा से अनेक संस्थाओं को अनुप्राणित करने में जुट गये। बेटी की पढ़ाई सुचारु रूप से चलने लगी। भारतीय हिन्दी परिषद् के अध्यक्ष बनकर शर्मा जी ने उस संस्था पर अपनी छाप छोड़ी।

श्रीनगर में साम्प्रदायिक अत्याचार उग्रतर हो उठे। वहाँ से पंडितों को भगाने की मुहिम शुरू हो गयी। अनेक पीढ़ियों से सम्मानित मुंशी परिवार का पैतृक आवास आग के हवाले कर दिया गया। विमला जी के परिजन दिल्ली में शरणागत हुए। पता चला, वह मकान महीनों जलता रहा। उसकी आँच आगरा तक पहुँचती रही और शर्मा परिवार अटूट धैर्य के साथ परिस्थितियों का सामना करता रहा। इसी बीच प्रो० शर्मा को हृदय रोग हुआ। कारदुर्घटना में घायल हुए। दवा, परहेज, योगाभ्यास और सामाजिक सांस्कृतिक सरोकारों के चलते उनकी सक्रियता बनी रही।

अक्तूबर २००२ में भारतीय हिन्दी परिषद् का राष्ट्रीय अधिवेशन गोरखपुर विश्वविद्यालय प्रांगण में हुआ। उस समय में भाभीजी भी साथ थीं। अधिवेशन की व्यस्तता के बावजूद समय

निकालकर दोनों कुशीनगर और मेरे गाँव हो आए। प्रो० शर्मा ने अधिवेशन के समय एक समारोह में प्रकाशित होकर आए मेरे दो कहानी संग्रहों–'पतिव्रता' एवं 'तीन लम्बी कहानियाँ' का लोकार्पण करा दिया। कुलाधिपति एवं राज्यपाल डॉ० विष्णुकांत शास्त्री ने कहा, 'तीन की जगह तीन सौ कहानियाँ लिखें।' अधिवेशन के अन्तिम दिन कार्यकारिणी के चुनाव में जो राजनीतिक दृश्य उभरा उससे शर्मा जी खिन्न हो गये।

अगले वर्ष जुलाई में संस्थान में एक मौखिकी के लिए मुझे जाना पड़ा। उनका स्पष्ट आदेश था, इसलिए सपरिवार गया। वहाँ जाकर पता चला कि किसी ने उनकी कार को टक्कर मार दी थी और वे बुरी तरह घायल हो गये थे। महीनों उपचार के बाद स्वास्थ्य में सुधार होने लगा था। किसी को खबर न करके चुपचाप इलाज कराते रहे। शर्मा परिवार के लिए सुखद संयोग हुआ आगरे के ही सम्पन्न परिवार में बेटी का विवाह। सौभाग्यवती लाली (रजनी शर्मा) और उसके दो बेटों के साथ ने सरस संबल प्रदान किया।

दो हजार छः की फरवरी में शर्मा जी से आखिरी मुलाकात हुई। हम लोग अपने ज्येष्ठ पुत्र प्रोफेसर सुनील के साथ अहमदाबाद में थे। गोरखपुर से वहाँ का फोन नम्बर लेकर शर्मा जी ने आदेश दिया कि आप दोनों को वसंत पंचमी से एक दिन पहले आगरा पहुँचना है। वसंतपंचमी के अगले दिन लौट सकते हैं। हमने गोरखपुर लौटने का वैसा ही कार्यक्रम बनाया। वहाँ पहुँच कर पता चला कि वहाँ की नागरी प्रचारिणी सभा में वरिष्ठ आचार्य विश्वनाथ शुक्ल के साथ मुझे सम्मानित करने की योजना है। वह समारोह सम्पन्न हुआ। अगले दिन हम लोग वृंदावन गये। शाम को लौटते ही शोकमग्न शर्मा जी ने टी०वी० पर आ रहे समाचार की ओर इशारा किया। राज्यसभा सदस्य प्रख्यात विद्वान पद्मभूषण पं० विद्यानिवास मिश्र के कार दुर्घटना में निधन का अशुभ समाचार प्रसारित हो रहा था। अश्रुपूरित मौन। उस रात मौन और अनाहार। अगले दिन हम लोगों को गोरखपुर लौटना था। दोपहर का भोजन उस समय नब्बे वर्ष से अधिक वय प्राप्त डॉ० श्रीमोहन धर द्विवेदी के घर हुआ। शर्मा जी उनके साथ पुराने दिनों की स्मृतियों का रोमंथन करते रहे। उनकी बेटी प्रोफेसर विद्या द्विवेदी और प्रोफेसर विमला मुंशी अपनी शालीन उपस्थिति से उस घरेलू कार्यक्रम को अविस्मरणीय बनाती रहीं। चलते समय शर्मा जी ने सहज आत्मीयता के साथ मुझे बाँहों में भरकर कहा, 'अगली बार हम दोनों गोरखपुर आयेंगे तो दो दिन आपके गाँव में रहेंगे।'

इस वर्ष वर्षाऋतु के बाद उनको बुलाने का सपना एक दिन-सात अप्रैल को डॉ० रामवीर सिंह शर्मा के फोन से टूट गया। उन्होंने बताया कि चार अप्रैल को प्रो० शर्मा हम सबको छोड़कर चले गये। तिरासी की उम्र में उनकी जीवन्त हँसी और प्रतिपल सजगता देखकर मृत्यु का ख्याल तक नहीं आता था।

परंपरा और आधुनिकता का संतुलन साधे रहने वाले शर्मा जी अद्यतन सूचनाओं से लैस रहते थे। सबके प्रति खुले, स्वागतोत्सुक शर्मा जी किसी प्रकार की रूढ़ि और कुंठा को पास फटकने नहीं देते। गंभीर पांडित्य से न आत्मविमुग्ध थे, न दूसरों को आतंकित करते थे। प्रगतिशील जीवनदृष्टि और अडिग निश्चय का एक अनुकरणीय उदाहरण है उनका जीवन। नीरद सी० चौधुरी ने बंगालियों के पुत्र मोह को रेखांकित किया है। आज का भारतीय समाज पुत्र-मोह के कारण कितने भ्रष्टाचार में आकंठ डूबता जा रहा है, इसे कौन नहीं जानता। प्रो० शर्मा ने १९८० में अपनी पुत्री लाली का परिचय देते हुए कहा था, 'यही मेरी बेटी है, यही मेरा बेटा। इत्यल्यम्' इस इत्यल्यम् के निर्वाह में श्रीमती विमला मुंशी जैसी विदुषी और दृढ़निश्चय वाली पत्नी ही उनका साथ दे सकती थीं। उनके बिना रहने की आदत डालना कितना कठिन होगा, इसका अनुमान किया जा सकता है किंतु उनके व्यक्तित्व को देखते हुए भरोसा बनता है कि श्रीमती विमला मुंशी प्रो० शर्मा के अधूरे कार्यों को पूरा करेंगी।

पुस्तक-समीक्षा

द रेनबो ब्रिज : ए कंपैरेटिव स्टडी ऑफ टैगोर एंड श्री अरविंदो।

डी० के० प्रिंटोवर लि०, नयी दिल्ली, २००७, पृ० २३५, मूल्य ४२० रुपये।

कवि, समालोचक और अनुवादक डॉ० गौतम घोषाल श्री अरविन्द-दर्शन और साहित्य के जाने माने विद्वानों में से हैं। अंग्रेजी और बंगला साहित्य के विशाल क्षेत्र में सहज ही सतत विचरणशील श्री घोषाल की रवीन्द्रनाथ और शेक्सपीयर दोनों में ही गहरी रुचि होने के नाते दोनों पर ही उनके अनेक लेख प्रकाशित हुए हैं।

श्री घोषाल की आलोच्य पुस्तक का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है– 'इन्द्रधनुषी सेतु–रवीन्द्रनाथ और श्री अरविन्द का तुलनात्मक अध्ययन'। लेखक ने अपनी इस पुस्तक में आधुनिक भारतवर्ष के निर्माता महापुरुषों में अन्यतम रवीन्द्रनाथ और श्री अरविन्द के पारिवारिक परिपार्श्व, सांस्कृतिक परिमण्डल, शिक्षा आदि ही नहीं उनके मनोजगत-सौन्दर्यबोध तथा मानवीय चेतना, राजनैतिक, सामाजिक और साहित्यिक चेतना की भी विस्तृत झाँकी प्रस्तुत की है, श्री घोषाल ने अपनी इस पुस्तक के सीमित परिसर में अत्यन्त निपुणता से लोगों के गद्य, पद्य, नाटक, कथासाहित्य, पत्र तथा रवीन्द्रनाथ के गीत और चित्र आदि का विश्लेषण करते हुए, अनेक उदाहरणों के माध्यम से दोनों के विचारों और संरचनात्मक अभिव्यक्ति में समानता तथा विभिन्नता–दोनों पक्षों पर ही समान रूप से प्रकाश डाला है। लेखक ने दिखाया है कि किस प्रकार दोनों महापुरुषों की सोच और अभिव्यक्ति की भिन्नता विभाजन की रेखा न रहकर पारस्परिक परिपूरक रेखा हो उठी है।

दोनों ही महापुरुषों के जीवन और रचना में झलकती आध्यात्मिकता पर लेखक ने अनोखे ढंग से प्रकाश डाला है–रवीन्द्रनाथ और श्री अरविन्द दोनों ही आशावादी कवि, सौन्दर्य और प्रेम के पुजारी, दु:खभरे जगत की पीड़ा को अपने गीतों और कविताओं के माध्यम से मिटाना चाहते थे और दोनों ने ही भारतीय काव्य को एक नया आयाम दिया–एक अनूठा सौन्दर्यबोध और आध्यात्मिकता से ओत:प्रोत कविता को एक नयी दिशा दी। दोनों ने ही अपनी रचनाओं में रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्द से बने इस मर्त्य जगत की जागतिकता को नकारा नहीं बल्कि वस्तुवादी पाश्चात्य जागतिकता और प्राच्य की आध्यात्मिकता में सुन्दर मेलबन्धन करते हुए एक नए जीवन-बोध को व्यक्त किया है।

अनेक उदाहरणों के माध्यम से श्री घोषाल ने दिखाया है कि किस प्रकार रवीन्द्रनाथ की कविताएँ युवा अरविन्द के मानस पर मन्त्र के रूप में प्रकट हुईं–मन्त्र जो कि वर्तमान के साथ-

साथ ही भविष्य की भी झलक दिखलाते हैं और श्री अरविन्द के पूर्ण योग की परिभाषा प्रस्तुत करने में सहायक सिद्ध होते हैं। श्री अरविन्द रवीन्द्रनाथ की कविताओं में अन्तर्मन की ध्वनि सुनते हैं जो व्यक्ति को वहिर्विश्व से मिलाती है। व्यक्ति सत्ता, उसकी चेतना प्रवर्द्धित, उद्‌भासित, विकसित होकर, समूचे विश्व से तादात्म्य जोड़ते हुए विश्वचेतना में तल्लीन हो जाती है। दोनों महापुरुषों की कविताएँ उस सतरंगी इन्द्रधनुषी सेतु के समान हैं जो व्यक्ति और विश्व, मानवात्मा और विश्वात्मा तथा मनुष्य और ब्रह्म के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है।

श्री घोषाल की सहज सावलील शैली से दुरूह गम्भीर विषय भी रोचक और सरस हो उठा है। कुछ स्थानों पर उनके काव्यिक और सांगीतिक सूझबूझ की झलक भी मिलती है। अंग्रेजी साहित्य के अध्यापक श्री गौतम घोषाल की पुस्तक न केवल विद्वत्‌जनों के लिए ही बल्कि सामान्य पाठकों के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी।

– इंद्राणी दास शर्मा

अपनी बात

विश्वभारती पत्रिका का पिछला अंक (खंड ४७-४८ संयुक्तांक) हजारीप्रसाद द्विवेदी जन्मशती के रूप में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत अंक में भी अधिकांश आलेख हजारीप्रसाद द्विवेदी पर ही केन्द्रित हैं। पत्रिका का खंड ४५ सुभद्रा कुमारी चौहान, जैनेन्द्र कुमार और महादेवी वर्मा स्मृति अंक के रूप में प्रकाशित हुआ था। इस अंक में रामकुमार वर्मा पर दो आलेख प्रकाशित कर हम उनके प्रति श्रद्धा ज्ञापित करते हैं। इस बीच हिन्दी के कई मूर्धन्य विद्वानों बच्चन सिंह, त्रिभुवन सिंह, शुकदेव सिंह तथा रमेश कुमार शर्मा का देहावसान हुआ। हिन्दी-भवन, शांतिनिकेतन से इन सभी विद्वानों का घनिष्ठ संबंध था। रमेश कुमार शर्मा के पिता सुप्रसिद्ध शिकारकथा लेखक और कलकत्ते से प्रकाशित 'विशाल भारत' के तत्कालीन संपादक श्रीराम शर्मा ने प्रारंभिक दौर में शांतिनिकेतन के हिन्दी-भवन को विशेष सहयोग प्रदान किया था। इसका स्मरण करते हुए रमेश कुमार शर्मा की भी हिन्दी-भवन से विशेष आत्मीयता थी। सुप्रसिद्ध नाटककार विजय तेंदुलकर और रमेश कुमार शर्मा पर हमें आलेख प्राप्त हुए हैं जिन्हें इस अंक में प्रकाशित किया जा रहा है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी की जन्मशती के उपलक्ष्य पर कई विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों और संस्थानों द्वारा आयोजन किये गये। शांतिनिकेतन के हिन्दी-भवन में भी राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। हजारीप्रसाद द्विवेदी जन्मशती प्रकाशन के रूप में विश्वभारती, शांतिनिकेतन द्वारा निम्नलिखित तीन महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का प्रकाशन किया गया है :

१. शांतिनिकेतन का हिन्दी-भवन : इस संकलन ग्रंथ के द्वारा हिन्दी-भवन की स्थापना और उसके उद्देश्य तथा विकास की क्रमबद्ध जानकारी मिलेगी। इसमें सी.एफ. एण्ड्रयूज, बलराज साहनी, बनारसीदास चतुर्वेदी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, मोहनलाल वाजपेयी, विनोद विहारी मुखर्जी, सीताराम सेकसरिया, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, धर्मवीर भारती, रामसिंह तोमर, भोलानाथ मिश्र के लेखों/संस्मरणों के अतिरिक्त अन्य लेख एवं पत्र भी संगृहीत हैं।

२. विश्वभारती पत्रिका : चयनित निबंध : हजारीप्रसाद द्विवेदी विश्वभारती पत्रिका के संस्थापक संपादक थे। उनके संपादन में १९४२ से १९४७ तक विश्वभारती पत्रिका का प्रकाशन हुआ। इस दौरान प्रकाशित विश्वभारती पत्रिका के अंकों से चयनित निबंधों का प्रकाशन किया गया है।

३. अपनी बात : विश्वभारती पत्रिका में संपादक हजारी प्रसाद द्विवेदी के अतिरिक्त संपादक मंडल के अन्य सदस्यों—क्षितिमोहन सेन, कृष्ण कृपालानी, गुरुदयाल मलिक की संपादकीय टिप्पणियाँ 'अपनी बात' शीर्षक से प्रकाशित होती थीं। इन संपादकीय टिप्पणियों को इस ग्रंथ में संकलित किया गया है।

– रामेश्वर मिश्र

Visva Bharati Patrika
April 2008 - September 2008

पंजीयन सं. R.No. 12088/66
प्रकाशन तिथि : दिसम्बर 2008

मूल्य : एक प्रति : ६० रुपये
वार्षिक : संस्थाओं के लिए २०० रुपये
: व्यक्तिगत सदस्यता १५० रुपये
विदेश में : एक प्रति 8 US$ वार्षिक : 30 US$

कुमकुम भट्टाचार्य, अध्यक्ष, विश्वभारती ग्रन्थन विभाग, ६ आचार्य जगदीशचन्द्र बसु रोड, कोलकाता ४६ द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।
अक्षर संयोजन : प्रभा कम्प्यूटर्स ३०/२१, यूनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद-२
मुद्रक : प्रभा कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिंटर्स, ३०/२१, यूनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद-२